श्रीनान्यभूपाल-प्रणीतम्

भरतभाष्यम्

प्रथमः खण्डः

(अध्यायाः १–५)

चैतन्य पुण्डरीक देसाई इत्येतैः

संशोधितं संपादितम्

हिन्दी-भाषा-टीकया टिप्पण्या च समलङ्कृतम्

प्रथमं संस्करणम्

इन्दिरा-कला-संगीत-विश्वविद्यालय
खैरागढ़ (म० प्र०)

[ईस्वी सन् १९६१

—: प्रकाशक :—
प्रभाकर नारायण चिंचोरे
उपकुलपति
इं० क० संगीत विश्वविद्यालय
खैरागढ़ (म० प्र०)

निवेदन



भरतभाष्य के प्रकाशन के लिए जब मैंने डॉ० गोडे जी से उनकी सम्मति माँगी, तब उन्होंने प्रत्युत्तर में कहा था—' किसी नैसर्गिक आपत्ति के कारण अगर आपको सम्मति मिलने में विलम्ब हुआ, तो क्या आप यह महत्कार्य रोक देंगे !' उनके इस प्रत्युत्तर से आज मुझे ऐसा लगता है कि शायद उन्हें अपने जीवनयात्रा के अन्त होने की सूचना पहले से ही मिल चुकी थी।

खैरागढ़ विश्वविद्यालय द्वारा ग्रंथप्रकाशन की योजना कार्यान्वित करने का श्रेय विश्वविद्यालय के प्रथम उपकुलपति तथा मेरे गुरु पद्मभूषण डॉ० श्री० ना० रातांजनकर जी का है। इस पुस्तक के प्रकाशन के लिए आवश्यक द्रव्य केन्द्रीय सांस्कृतिक मन्त्री श्री० हुमायुन कबीर जी की कृपा से उपलब्ध हुआ।

खैरागढ़ विश्वविद्यालय का 'अनुसंधान विभाग' निकट भविष्य में ही प्रारंभ होनेवाला है। आगामी प्रकाशन के लिए अन्य पुस्तकें तैयार हो चुकी हैं तथा भरतभाष्य का द्वितीय खण्ड तैयार हो रहा है। परन्तु प्रकाशन-कार्य के लिए आवश्यक द्रव्य का अभाव, यह विश्वविद्यालय के सामने एक विकट समस्या है।

आशा करता हूँ, कि पाठकगण हमारे इस कार्य को समुचित रूप से सफल बनाने के लिए अपना उचित सहयोग प्रदान करेंगे।

प्रभाकर नारायण चिंचोरे

भूमिका



खैरागढ़ संगीत विश्वविद्यालय द्वारा यह प्रथम प्रकाशन है। संगीत के कतिपय संस्कृत ग्रंथ अभी तक अमुद्रित हैं, भरतभाष्य उनमें प्रमुख है। भरतभाष्य की मूल हस्तलिखित प्रति बहुत ही अशुद्ध तथा खण्डित है, उसको शुद्ध करना महान् प्रयास का तथा विद्वत्ता का कार्य है। श्री० चैतन्य देसाई ने इस ग्रंथ का संशोधन तथा संपादन किया है। ये संस्कृत के पंडित तथा संगीतशास्त्र के विशेषज्ञ हैं।

संगीत का प्रथम प्राचीन ग्रंथ भरतनाट्यशास्त्र है, उसमें जो चर्चा है, वह नाट्यसंगीत की है, ऐसा विद्वानों का मत है। प्रचलित संगीत रागों का है, परन्तु नाट्यशास्त्र में रागों की चर्चा नहीं है। तत्पश्चात् के मतंग के बृहद्देशी ग्रंथ में रागों का विषय चर्चित है।

संगीत वास्तव में मौखिक तथा प्रायोगिक विषय है। प्राचीन संगीत के श्रुति, ग्राम, मूर्च्छना आदि मूलभूत विषय प्रायोगिक ही थे, अतः शाब्दिक वर्णन द्वारा उनका बोध होना असंभव है। वेद के स्वरोच्चार भी प्रायोगिक ही हैं, उनकी मौखिक शिक्षा अनेक शिष्य-प्रशिष्यों को प्राप्त हुई, परिणामतः स्वरोच्चार में भिन्नता आ कर वेद की अनेक शाखाएँ उत्पन्न हुईं।

प्राचीन ग्रंथोक्त श्रुति, ग्राम, मूर्च्छनादि विषयों का विवेचन आजकल कतिपय विद्वान आधुनिक विज्ञान के आधार पर करते हैं तथा विशिष्ट निष्कर्ष निकालते हैं। संगीत के संस्कृत ग्रंथ प्रायः दुर्बोध हैं और अपने अपने मतानुसार विशिष्ट अर्थ निकालने के लिए विद्वद्गण प्राचीन ग्रंथवचनों को विकृत करते हैं। अतः प्रथमतः यह आवश्यक है, कि प्राचीन मध्ययुगीन संस्कृत ग्रंथों का सरल भाषान्तर तथा विवेचन पाठकों के सामने रखा जाय। श्री० चैतन्य देसाई के यह प्रयत्न कुछ इसी दिशा में हैं, जिससे संगीतशास्त्र के जिज्ञासुओं को काफी लाभ होगा। संगीत का इतिहास आदि Musicology के विषय समझने के लिए प्राचीन ग्रंथों का अभ्यास अत्यंत आवश्यक है।

मतंग के ग्रंथ की रचना सातवीं शताब्दी में हुई, ऐसा अनुमान है। भरतभाष्य बारहवीं शताब्दी का ग्रंथ है। रत्नाकर ने भरतभाष्य से पर्याप्त सामग्री ली है; रागप्रकरण में नान्यदेव स्वयं मतंग का ऋणी है।

प्रकाशन-कार्य में खैरागढ़ विश्वविद्यालय का यह प्रथम प्रयत्न है। पुस्तक-प्रकाशनार्थ आवश्यक द्रव्य प्राप्त करने के लिए विश्वविद्यालय को घोर प्रयत्न करने पड़े।

खैरागढ़ विश्वविद्यालय द्वारा संगीत के संशोधन का तथा ग्रंथप्रकाशन का कार्य उत्तरोत्तर प्रगति करेगा, ऐसी आशा रखते हुए देवी सरस्वती के चरणकमलों पर शतशः प्रणाम अर्पित करता हूँ।

श्री० ना० रातांजनकर

राजभवन

भोपाल

विश्वविद्यालयों द्वारा अपेक्षित कार्यों में संशोधन कार्य प्रमुख है। खैरागढ़ विश्वविद्यालय द्वारा संगीत के संशोधन की एवं संगीत ग्रंथों के प्रकाशन की योजना बनायी गयी थी, जो संगीत के विकास के लिए श्रेयस्कारक है। उक्त योजना के अनुसार विश्वविद्यालय द्वारा यह प्रथम प्रकाशन हो रहा है। श्री० चिचोरे जी ने इस प्रकाशन का यह कार्य अपने हाथ में लिया है।

इस पुस्तक की हिंदी टीका में अनेक ग्रंथकारों के तथा आधुनिक विद्वानों के मतमतान्तर दे कर संपादक ने प्राचीन संगीत के कई विषयों का विवेचन किया है, वह संगीत के अभ्यासकों को उपयुक्त प्रतीत होगा।

मुझे विश्वास है कि, भविष्य में खैरागढ़ विश्वविद्यालय संगीत के संशोधन तथा प्रकाशन के कार्य में अधिकाधिक प्रगति करेगा।

ह० वि० पाटसकर

प्रस्तावना



खैरागढ विश्वविद्यालय के भूतपूर्व उपकुलपति डॉ० **रातांजनकर** जी ने संगीत ग्रंथों के प्रकाशन की योजना ई० स० १९५९ में बनाई तथा भरतभाष्य के संपादन का कार्य मुझे सौंपा। पूना के साहित्य-संगीत के एक रसिक श्री० सरदार आबासाहब **मुजुमदार** ने भरतभाष्य की एक प्रतिलिपि लगभग २० वर्ष पहले मुझे पढने के लिए दी थी, उस समय से ही भरतभाष्य के प्रति मेरा ध्यान आकृष्ट हुआ था। मेरे इस कार्य में मेरे मित्र पूना भां० ओ० रि० इन्स्टिट्यूट के भूतपूर्व क्युरेटर स्व० डॉ० **गोडे** रुचि लेते थे। दुर्भाग्य से वे इस पुस्तक का प्रकाशन देखने के पूर्व ही इस संसार से चल बसे!

डेक्कन कॉलिज डिक्शनरी विभाग (पूना) के उपसंपादक डॉ० **पळसुले** तथा संगीतशास्त्र के एक विद्वान प्रो० वा० ग० **परांजपे**, इन्होंने प्रेसकॉपी का प्रारंभिक अंश देख कर सुधार के सुझाव दिये। पुस्तक की प्रेसकॉपी तैयार करवाने से लेकर पुस्तक प्रकाशनार्थ द्रव्य एकत्रित करने तक का कार्य विश्वविद्यालय के विद्यमान उपकुलपति श्री. **चिंचोरे** जी ने अत्यंत सहृदयतापूर्वक किया। यदि उनका सहकार न प्राप्त होता, तो इस पुस्तक का प्रकाशन दुष्कर हो जाता! इंदोर के मेरे एक मित्र प्रो० म० ई० **विप्रदास** जी तथा निर्णयसागर प्रेस के अनेकभाषातज्ञ पं० नारायण राम **आचार्य** जी ने पुस्तक के संस्कृत पाठ का शुद्धिपत्र बनाया। इन सभी विद्वानों के प्रति मैं अतीव कृतज्ञ हूँ।

विश्वविद्यालय के कुलपति तथा म० प्र० के राज्यपाल महामहिम श्री० ह० वि० **पाटसकर** जी ने इस पुस्तक के प्रकाशन में बारंबार प्रोत्साहन दिया तथा अपना आशीर्वाद प्रेषित कर पुस्तक की शोभा बढायी, जिसके लिए मैं हृदय से उनका ऋणी हूँ।

मेरे इतने प्रयत्नों के बावजूद पुस्तक में अनेक त्रुटियाँ रही हैं, जिसके लिए मैं पाठकों से क्षमायाचना करता हूँ।

चैतन्य देसाई

ग्रंथपरिचय



नान्यभूपाल

भरतभाष्य का कर्ता नान्यभूपाल मिथिला (तिर्हुत) का नरेश था। उसने मिथिला का शासन ई० स० १०९७ से ११३३ तक किया। ई० स० ९५० से १२५० तक का युग संगीत का स्वर्णयुग था। नान्यदेव, भोज, सोमेश्वर, परमर्दी, शार्ङ्गदेव आदि संगीतशास्त्रकार इसी युग में हुए।

भरतभाष्य के प्रत्येक अध्याय के 'इतिश्री' (colophon) में 'मिथिलेश्वर' 'मिथिलाधिप' आदि स्वयं का निर्देश नान्यदेव ने किया है। 'नान्य' यह 'नारायण' नाम का दाक्षिणात्य लौकिक संक्षेप होगा, कारण ग्रंथकर्ता ने स्वयं के नारायण नाम का भी कहीं कहीं उल्लेख किया है –

'गान्धारग्राममित्येवं राजनारायणोऽभ्यधात्।' इ०, कहीं कहीं 'नान्यपति' नाम भी प्रयुक्त है –

श्रीनान्यपति क्षितेरधिपति ' इ० (गीताध्याय)।

नान्यभूपाल के ज्येष्ठ बंधु का नाम कीर्तिराज था, जिसका निर्देश एक स्थल पर 'कीर्तिराजानु-जन्मना' इस प्रकार उपलब्ध है।

ग्रंथ का नाम

इस ग्रंथ का वास्तविक नाम 'सरस्वती हृदयालङ्कार' है, जिसका निर्देश 'इतिश्री' में बारंबार आया है। कतिपय अध्यायों में 'सरस्वती हृदय भूषण' नाम प्रयुक्त है (पृ० ८)। एक दो अध्यायों में केवल 'भरतभाष्य' नाम निर्दिष्ट है। प्रचार में भरतभाष्य नाम ही प्रसिद्ध है।

ग्रंथ की श्लोकसंख्या

ग्रंथ का कुछ अंश गद्यात्मक है, उसे मिला कर श्लोकसंख्या लगभग ७००० होती है। विलुप्त दो अध्यायों की श्लोकसंख्या डेढ़ हजार मानने से कुल श्लोकसंख्या आठ से नौ हजार तक हो सकती है। ना० शा० की श्लोकसंख्या सात हजार के लगभग है।

हस्तलिखित का स्वरूप

भरतभाष्य की पाण्डुलिपि भाण्डारकर ओरिएण्टल् इन्स्टिट्यूट (पूना) में सुरक्षित है। इसकी अन्य एक प्रति सौराष्ट्र में थी, जो लुप्त हुई, ऐसा औफ्रायस्ट का कहना है।

ग्रंथ की प्रति बहुत ही जीर्ण तथा स्थल स्थल पर खण्डित है। अक्षर सुंदर तथा घुमावदार है। प्रत्येक पत्र में ११ पंक्तियाँ और प्रत्येक पंक्ति में ४० से ५० तक अक्षर हैं। लिपिकार मूल प्रति को संभवतः ठीक प्रकार से पढ़ न सका होगा क्योंकि उपलब्ध हस्तलिखित प्रति अत्यंत अशुद्ध है।

भरतभाष्य में भरतोक्त संगीत का विवेचन विस्तार से दिया है, साथ साथ मतंगोक्त रागों की चर्चा भी विस्तार से की है। प्रत्येक विषय अनेक उदाहरण दे कर समझाया है, फलतः कहीं कहीं पुनरुक्ति भी हुई है। भाषा सुगम तथा मधुर है।

शिक्षाध्याय में नारदी-शिक्षान्तर्गत संगीतविवेचनात्मक सभी अंश नान्यदेव ने उद्धृत किये हैं, उनमें नारदीशिक्षा का ग्राम रागवर्णनात्मक श्लोक —'इयत्स्पृष्टो निषाद स्यात्०' भी अंतर्भूत है। (पृ० ७९, ९६)। पाणिनीय शिक्षा के श्लोक नान्यदेव द्वारा संग्रहित हैं।

ग्रंथ में चर्चित विशेष विषय

नान्यदेव ने अन्य अनेक ग्रंथ-ग्रंथकारों के निर्देश इस ग्रंथ में किये हैं, उदाहरणार्थः— बृहत्कश्यप (पृ० १११), कश्यप (६७, ९६, ९७, इ०), विशाखिला (३६, १३८, १६६, ११८ इ०), नन्दि (२९०), याष्टिक (१०८, ११२, ११४), देवराज या देवराज (६९, ७०, १३४), अर्चचार्य (? ७०), अभिनवगुप्त (१८४ इ०), भगवतीपुराण (१३०), कालिकापुराण (१३२), भागवत (१३८), रत्नकोश (१६९) इत्यादि

रागप्रकरण में नान्यदेव ने अधिकप्राय कश्यप तथा मतंग को उद्धृत किया है। उसके विवेचन में कश्यप का संदर्भ इस प्रकार दिया है :—

'अस्माभिस्तु कश्यपादिसी रागा अभ्यनुज्ञाता' ॥ पृ० ६७ ॥

मतंग के ग्रंथ का वाद्याध्याय उपलब्ध नहीं है, किन्तु उसका कुछ अंश नान्यदेव ने उद्धृत किया है।

रत्नाकर ने प्राचीन संगीत के कतिपय विषय संक्षेपित किये हैं या अव्यवहार्य समझ कर बिलकुल हटा दिये हैं। उदाहरणार्थ प्राचीन 'पुष्कर' (पखवाज) का विवेचन रत्नाकर ने टाल दिया है :—

'प्रोक्तं मृदङ्ग शब्देन मुनिना पुष्कर-त्रयम्।
अत्यन्ताव्यवहार्यत्वान्निःशंको न तनोति तत्' ॥ ६ । १०२५ ॥

इसी प्रकार रत्नाकर ने प्राचीन वीणा तथा वेणु का विवेचन संक्षेपित किया है, किन्तु यह विषय नान्यदेव ने विस्तार से दिया है।

प्राचीन संगीत के कतिपय विषय नान्यदेव ने दिये हैं, जिनका विवेचन रत्नाकरादि ग्रंथों में उपलब्ध नहीं है। प्रारंभ के केवल ७० पत्रों में आये हुए विशेष विषयों की सूची नीचे दे रहे हैं:—

१ चित्रा, वीणा, अलाबू आदि वीणाएँ (पृ० ४)
२ तीनों ग्रामों के स्वरों का अनुक्रम (१०, १४)
३ क्रुष्टादि सामिक स्वरों का षड्जादि स्वरों से मेल (११)
४ चार स्वरों के राग (१५)
५ वादी-संवादी आदि स्वरभेदानुसारी ४ वर्ण तथा वादी अर्थात् स्थायी स्वर की व्याख्या (२०)
६ षाड्जी जाति के स्वरसंनिवेश का विवेचन (२०–३०)
७ ग्रह, अंश आदि के परिवर्तन से प्राप्त षाड्जी जाति के ९५ भेदों के उदाहरण (२४–३४)
८ ग्रहादि के परिवर्तन द्वारा प्राप्त पञ्चमी-कम्बल के प्रकार (६२)
९ दीप्तादि श्रुतिजातियों के रस
१० ग्रामरागों के एवं गीतों के ऋतु (७६,७७)
११ राग की परिभाषा (७७)
१२ रागों के नामकरण का उद्देश्य (७७)
१३ ग्रामराग, भाषाराग आदि की परिभाषा तथा उद्देश्य (७७)

तदुपरान्त प्राचीन ध्रुवागीत, ऋक्, गाथा, असंख्य देशी गीत, एला आदि के एवं प्राचीन ताल के विपुल उदाहरण; प्राचीन पणव, दर्दुर आदि वाद्यों का वर्णन, प्राचीन बाँसुरी के नाप, श्रुतिसंख्या के अनुसार रन्ध्रान्तर तथा वादन की रीति इत्यादि विषय भरतभाष्य में विवेचित हैं। सारांश, प्राचीन .

संगीत के अभ्यासकों के लिए भरतभाष्य ग्रंथ अत्यन्त महत्त्व का है। साहित्यशास्त्र के संस्कृत टीकाकारों ने भरतभाष्य से कुछ अंश उद्धृत किये हैं, उससे अनुमान लगा सकते हैं, कि भरतभाष्य का महत्त्व उस समय के संस्कृत साहित्यकार भी मानते थे।

पूना-संपादकोक्त अध्याय-क्रम

स्व० डॉ० गोडे ने भरतभाष्य के विषय में B. O. RI., Cat., Vol. xii में एक लेख संक्षेप में लिखा है, उसी लेख में श्री० एम० आर० कवि के लेख का सारांश भी उद्धृत किया है। स्व० डॉ० गोडे के मतानुसार अ० ८, ९ तथा १० की संगति लगती नहीं है तथा अ० १७ वाँ लुप्त है। ह० लि० के संग्रहकर्ता की टिप्पणी 'Incomplete, 16th and 17th Chapters wanting' इस प्रकार है। डॉ० गोडे ने अध्यायों का सिलसिला बता कर तर्क किया है:— 'Presuming that Chapters 8, 9 and 10, which we are unable to account for, are really missing, if the English endorsement is correct' ग्रंथ में वेणु-वादन का विषय दिया नहीं है, ऐसा भी उन्होंने लिखा है:— 'The work gives full information except on Flute' (p. 379). परन्तु उन्होंने उद्धृत किये हुए श्री. कवि के लेख में 'Folios 195-201, Chapter XII सुषिराध्यायः' तथा 'Chapters—12th वीणाs and flutes' स्पष्ट है। डॉ० गोडे ने अध्यायों का क्रम निम्नानुसार दिया है:—

पत्राङ्क	अध्याय	अध्याय का नाम
२-५	१	प्रथमोऽध्यायः
५-८	२	शिक्षाध्याय द्वितीयः
८-१२	३	तृतीयः
१२-१७	४	तानाध्यायः
१७-६३	५	जातिकाध्यायः
६३-१११	६ (IV?)	रागोतत्त्वध्यायः
१११—११६	७	सप्तमाध्यायः रागोत्पत्तिः
११६—१६३	८	गीताध्यायः
१६३—१६६	९	मार्गाश्रितानि गीतानि
१६६—१८१	१०	देशी-गीतकाध्यायः
१८१—१९५	११	तालाध्यायः चतुर्दश
१९५—२०१	१२	सुषिराध्यायः
२०१—२२१	१३	पुष्कराध्यायः

उपरोक्त के अनुसार क्रम बता के अन्त में निष्कर्ष निकाला है कि:—'इस प्रकार केवल १३ अध्यायही प्राप्त होते हैं। अ० ७ वें तक गड़बड़ी प्रतीत नहीं होती; परन्तु ११ वें अध्याय के अन्त में 'तालाध्यायः चतुर्दश' इस प्रकार निर्देश आता है, तदनुसार अ० ११ वें को १४ वाँ, १० वें को १३ वाँ इत्यादि प्रतिलोम गणना करने पर स्पष्ट होता है, कि अ० ८, ९ तथा १० लुप्त हैं।'

श्री० कवि-प्रणीत अध्याय-क्रम

Chapters 1 to 4 स्वर, श्रुति, ग्राम, मूर्च्छना
and ताल s

× 5 th wanting (अलङ्कार s)
6 th – जाति
7 th – of राग s
8 th – सङ्गीत
9 th & 10 th – ध्रुवा s and ध्रुवा-ताल s
11 th – देशी राग s
12 th – वीणा s and Flutes
13 th & 14 th – मृदङ्ग, पणव and दर्दुर
× 15 th & × 16 th – (Missing)

सारांश श्री० कवि जी के मतानुसार भरतभाष्य के कुल १६ ही अध्याय हैं, जिनमें से दो लुप्त हैं।

नान्यदेवरत अध्याय-सूची

नान्यदेव ने प्रथम अध्याय में विषयसूची दी है, अत उसके अनुसार ह० लि० के पत्र पढ कर अध्यायों का क्रम लगा सकते हैं, किन्तु यह कार्य इतना सरल नहीं है, कारण कतिपय अध्यायों के अंश आगे पीछे के अनेक अध्यायों के साथ मिश्र हो गये हैं, यथाक्रम देखने से उनका क्रम जमता नहीं है। इससे भी अधिक यह है, कि मिश्र अध्यायों की इस संकीर्णता के अनुसार किसी धृष्ट लेखक ने नान्यदेवोक्त सूची में भी हस्तक्षेप कर के उसको उसी तरह विपर्यस्त कर डाली है।

भरतनाट्यशास्त्र में नाट्य-संबंधित अनेक विषयों की चर्चा आयी है, उसमें नाट्य, नृत्य एवं गीत-वाद्य प्रमुख हैं। नाट्य तथा नृत्य के विषय अभिनयात्मक अर्थात् आङ्गिक हैं, एवं वेष भूषादि का विषय 'आहार्य' है। अवशिष्ट तृतीय अवयव गीत वाद्य तथा उसके आनुषंगिक छन्द इत्यादि विषय साहित्यानुगामी अतएव 'वाचिक' अंश कहलाते हैं। भरतभाष्य का क्षेत्र इस वाचिक अंश तक मर्यादित है –

'अध्यायैः सप्तदशभिरेभिऽर्थिव करिष्यते ।
साङ्ग लक्षणं चैव सालङ्कारं च वाचिकम् ॥'

नान्यदेव ने सूची में कुल १७ अध्यायों के विषय बताये हैं, उदाहरणार्थ –

१. 'अखिलस्तु प्रथमाध्याये उद्देशाख्ये विधास्यते ।
......स्वराध्याये समुद्देशे यथाक्रमम् ॥
ग्रामोद्भव भिदा.. ...गीतस्य गुणदोषयोः ।
कण्ठस्य गुणदोषौ च यत्नेन गायकस्य च ॥
२. अध्याये तु द्वितीयेऽत्र शिक्षाख्ये कथयिष्यते ।
वर्ण-जाति-ध्वनि स्थानं-देय.....॥

इत्यादि, जो इस पुस्तक में प्रथमाध्याय को देखने से ज्ञात हो सकते हैं। नान्यदेवोक्त सूची में निर्दिष्ट अध्यायों का क्रम निम्नप्रकार है:—

१ उद्देशाध्याय, २ शिक्षाध्याय, ३ स्वराध्याय, ४ मूर्च्छना-तानाध्याय, ५ अलंकाराध्याय, ६ जात्यध्याय, ७ रागोत्पत्त्यध्याय, ८ सप्तगीतकाध्याय, ९ ध्रुवाध्याय, १० तालाध्याय, ११ देशिकाध्याय, (१२ सुषिराध्याय), १२ तालाध्याय, १३ सुषिराध्याय, १४ तथा १५ पुष्कराध्याय, १६ छन्दोऽध्याय, १७ भाषाध्याय

हस्तलिखित में अ० १६ तथा १७ वाँ लुप्त है। ३ श्रुत्यध्याय तथा ४ मूर्च्छनाध्याय अनेक पत्रों में बिखरे हुए अन्य अध्यायों के साथ घुलमिल गये हैं, जैसा हमने टीका में स्थल स्थल पर स्पष्टीकरण कर के बताया है।

नान्यदेवोक्त सूची के अनुसार प्रायः सभी अध्यायों के विषय ठीक प्रकार से मिलते हैं, किन्तु सूची में तालाध्याय में गड़बड़ी है तथा १२ वे 'सुषिराध्याय' का निर्देश दो बार आया है। सूची में तालाध्याय को १० वाँ तथा १२ वाँ बताया है, परन्तु ह० लि० में १२ वाँ वीणाध्याय ठीक तरह से उपलब्ध है, अत: तालाध्याय का क्रम १० वाँ ही होना चाहिए। यह अध्याय खण्डित है तथा अग्रिम ११ वें अध्याय के साथ मिश्रित हो गया है। ११ वें देशिकाध्याय में भी तालों का वर्णन है, अतः १० वें तालाध्याय को अलग निकालना दुष्कर है। ह० लि० में ११ वें अध्याय के आगे १० वें अध्याय का अंश जोड़ा गया है, शायद उसको देख कर प्रक्षेपक ने सूची में भी 'ततस्तु द्वादशाध्याये तालाख्ये कथयिष्यते।' इत्यादि लिख डाला।

अ० ११ वें तक के क्रम का निर्देश भरतभाष्य में अन्य दो स्थल पर आया है, उसके अनुसार भी १० वाँ तालाध्याय एवं ११ वाँ देशिगीतकाध्याय इस प्रकार क्रम निश्चित होता है:—

(१) '……रागोत्पत्ति निवेदिता।
तेषु रागेषु 'गीतानि सप्ताधुक्तानि तानि तु॥
तथा ध्रुव-लैयाश्चैव [11]देशी-गीतानि सर्वशः।
तालैर्नानाविधैर्युक्तान्यत्र गेयानि तानि तु॥' (प० १९०)

इनके पूर्व के श्लोक लुप्त हैं। उपरोक्त श्लोकों में अध्यायों के विषय बताये हैं, तदनुसार अ० ७= 'रागोत्पत्तिः'; ८='सप्तगीतकानि'; ९='ध्रुवाः', १०='लयाः' (तालाः) एवं ११='देशी-गीतकानि' इस प्रकार ७ वें अध्याय से ११ वें अध्याय तक का क्रम स्पष्ट होता है। इसके आगे के श्लोकों में तृतीय से दशम अध्याय तक का क्रम निर्दिष्ट है, जिसके अनुसार १० वाँ तालाध्याय निश्चित होता है:—

'श्रुत्यध्याये च तानाख्येऽलङ्काराध्याय एव च।
जात्यध्याये रागोत्पत्तौ सप्तगीत-विधौ तथा॥
ध्रुवाध्याये लापे (मार्ग-)-देशी-तालयोरपि च द्वयोः।
प्रोक्तं कण्ठेन यद् गानं त्वध्याये दशके त्विदम्॥' (प० १९०)

इन श्लोकों में कण्ठ-संगीत से संबंधित विषयों की ही गणना अभिप्रेत है, अतः प्रथम अध्याय उद्देशाध्याय का तथा द्वितीय शिक्षाध्याय का नामोल्लेख नहीं किया गया है। उपरोक्त श्लोकों की तृतीय पंक्ति में 'ध्रुवाध्याये लापे देशी०' वचन में 'लापे' अशुद्ध है, उसके आगे 'तालयोः' शब्द है, अतः 'लापे देशी-तालयोः' को 'मार्ग-देशी-तालयोः' इस प्रकार पढ़ना ठीक रहेगा। इन श्लोकों में बताया हुआ क्रमः-अ० ३='श्रुत्यध्याय', ४='ताना-(मूर्च्छना)-ध्याय', ५='अलङ्काराध्याय'; ६='जात्यध्याय'; ७='रागोत्पत्त्यध्याय'; ८='सप्तगीतकाध्याय'; ९='ध्रुवाध्याय' तथा १०='तालाध्याय' इस प्रकार निश्चित होता है।

ह० लि० के प्रारंभ के पत्र पुंडरीकविट्ठल-कृत **सद्रागचन्द्रोदय** के हैं, जो भरतभाष्य के साथ लिपिकार ने जोड़ दिये हैं, अर्थात् भरतभाष्य का प्रारंभ का अंश लुप्त है। उसी प्रकार अन्तिम १६ वाँ तथा १७ वाँ, दोनों अध्याय विलुप्त हैं।

१ से ५ तक के अध्यायों के विषय

प्रस्तुत ग्रंथ की पाण्डुलिपि के सूक्ष्म अध्ययन से ज्ञात होता है, कि इसकी प्राप्त प्रति में (या हो सकता है कि इसके पूर्व की प्रति में) कई पृष्ठ संभ्रमवशात् आगे पीछे लिखे गये हैं, तथा इस भ्रांति के कारण कई अध्याय किसी दूसरे अध्याय में कहीं कहीं एक बार तथा कहीं कहीं एक से अधिक बार घुलमिल गये हैं। संक्षेप में जो अध्याय हम बिल्कुल समझते आये हैं, वे सभी आगे पीछे के अध्यायों द्वारा हम प्राप्त कर सकते हैं। इसी दृष्टि से अनुसंधान करते हुए अध्यायों का जो सिलसिला हमें ठीक लगा, वह प्राप्त हुए प्रमाणों के साथ आगे दे रहे हैं।

१ : **उद्देशाध्याय** :— इस अध्याय का प्रथम पृष्ठ खो गया है, तथा किसी अज्ञ लिपिकार सज्जन ने **पुंडरीक विट्ठल** के 'सद्रागचन्द्रोदय' से 'यच्छाकारैर्विरचित-वपुः' आदि २५ श्लोक ज्यों के त्यों उतार कर भरतभाष्य ग्रंथ का प्रथम पृष्ठ तैयार किया है। प्रथमाध्याय का प्रारंभ वास्तव में पृ० २ पर...... 'ध्वनित सम्यग् गीतिप्रयोगतः।' यहां से प्रारंभ होकर पृ० ५ पर 'अथमुद्देशाध्यायो रचितस्त्वेनेह नान्यदेवेन। इति महासामन्ताधिपति.........नान्यपतिविरचिते सरस्वती-हृदय-भूषणे भरतभाष्ये प्रथमोऽध्यायः (समाप्तः)।' इस वाक्य के साथ समाप्त होता है।

२ : **शिक्षाध्याय** :— पृ० ५ पर लिखे हुए "अध्याया (–या) समुद्देशो......। पूर्वाध्याये प्रदर्शितो ॥ १ ॥ इदानीं वर्ण (र्ण–) निष्पत्तिमुत्पत्ति-स्थानमेव च। ध्वनि स्वरांश्च वक्ष्यामि शिष्या– (–क्षा–) विस्तरमेव च ॥ २ ॥"

[illegible] श्लोकों से प्रारंभ होकर पृ० ८ पर "इत्येवं कथितः सर्वैः शिक्षायां विस्तरो मया।"...... ......"सत्त्रीभिर्भुज-वलयानन्द-चण्ठात् ।............इति महासामन्ताधिपतिः .... भरतभाष्ये शिक्षाध्यायो द्वितीयः समाप्तः ॥–॥" इन श्लोकों के साथ समाप्त होता है।

३ : **श्रुत्यध्याय**:— पृ० ८ के अंत में "उदात्तादि......दैर्व (?) लक्षणं च (लक्षणानि) सतो ध्वनेः।" आदि श्लोकों से प्रारंभ हो कर पृ० १२ के प्रारंभ में—

"यशोभिः शोभन्ते सरदुः (शरदि ?) यशोन्मीलद्मल.।" आदि श्लोकों के साथ समाप्त होता है। इस अध्याय के कई श्लोक सातवें अध्याय में पुनरुक्त दिये गये हैं, जैसे कि— श्लोक ५६–५८; ६५; ८७–९७; १०१–११९ आदि। पृ० ६७–६८ पर सातवें अध्याय में श्लोक १८, १९, ३५, तथा ५१–५५ ये सब दोहराये गये हैं। सातवें रागाध्याय के प्रारंभ में पृ० ६४ पर

'पूर्वाध्याये स्वरादीनां निरुक्त्यादि प्रकीर्तितम्।
अतः संक्षेपतस्तेषां किंचिदत्र निरूप्यते ॥–॥'

ये श्लोक दिये हैं; किंतु यह संक्षेप उसके विस्तार से इतना अधिक है कि उस पर विश्वास करना ही कठिन है।

४: **मूर्च्छनाध्याय**:— पृ० १२ के प्रारंभ में १२ श्लोकों के पश्चात् इस अध्याय का प्रारंभ होता है.—

"इदानीं ग्रामभेदेन मूर्च्छनानामवस्थितिः।
ग्रामाधिदेवता भार्या (?) यथावदनुकीर्त्यते ॥–॥

यह इस अध्याय का प्रारंभिक श्लोक है। पृ० १७ के मध्य में इसकी समाप्ति—

"एवम् ग्रामत्रये......... न विंशतिसनमेकं।
तानानामनुलोमेन सेवमेनन्मनीषिभिः ॥–॥ इति ॥
गंग्राम-प्रतिराजगर्भंडसमो मूर्च्छालडामर—
ग्रामोद्गीत-गुणोदयो दिशि दिशि प्रोत्तालतान-ध्वनिः ॥"

आदि श्लोकों के पश्चात् "इति······तानाध्यायः समाप्तः" इस प्रकार की गई है । अतः इस अध्याय को हम "मूर्छना-तानाध्याय" कहना उचित समझते हैं ।

सातवें अध्याय में इस अध्याय के कई श्लोक पुनश्च दिये गये हैं । विशेषतः मध्यमग्रामिक एवम् गान्धारग्रामिक तानविषय के "प्रस्तारकोऽयं पैशाचो जीवः शाविन एवच ।" से ले कर—

"तानाः पंचदशैवैते गांधारग्राम-संश्रिताः ॥" तक के श्लोक उदाहरण के स्वरूप दिखाये जा सकते हैं । उसी प्रकार ७ वें अध्याय में पृ० ६६ के मध्य से पृ० ६७ के मध्य तक तान प्रकरण के-

"अथ तानाः—

तन्यन्तीह स्वरान् यस्मात्तानास्तेन प्रकीर्तिताः । ······
ऊन-त्रिंशति-साहस्री तानाः स्युः समुदायतः ॥"

इन श्लोकों तक का वर्णन, तथा अन्य २० श्लोक सातवें अध्याय में अनावश्यक ही हैं । इनके आगे श्रुतिविषयक श्लोक पुनरुक्त हुए हैं ।

५। अलंकाराध्यायः—पाण्डुलिपि में इस अध्याय के बारे में बहुत ही धांधली हुई है । ६ वें अर्थात् जात्यध्याय में पृ० ७३ पर विकृत जातियों का वर्णन करते समय बीच में पृ० ७४ पर अचानक—

"वर्णा एव हि जातीनां देहा इत्यभिधीयते ।
अलंकाराय तद्वक्ष्ये वर्णानामेव लक्षणं ॥ १ ॥
आरोही चावरोही च स्थायि-संचारिणौ तथा ।
वर्णाश्चत्वार एवैतेष्वलङ्कारास्तदाश्रयाः ॥ २ ॥"

आदि पाँच श्लोक न मालूम क्यों डाल दिये और उनके आगे विकृत जातियों का वर्णन फिर से

"धैवत्यामूनपंचाशद् भेदा उक्ता मनीषिभिः ।"

इस प्रकार से प्रारंभ किया गया है । आगे के २५ श्लोकों में नैषादी, षड्जकैशिकी, ष० उ०, ष० म०, गान्धारी एवम् मध्यमा इन जातियों का वर्णन करने के पश्चात् पृ० ७४ के अंत में—

"मध्यमायां भवत्यंशा निषा-गान्धार-सप्तमौ ।
······बोद्धव्यं (षाडवं) चाथ गान्धारे कर्तव्यं तु प्रयत्नतः ॥-॥"

इस श्लोक के पश्चात्—

"(षड्ज-मध्य-)वर्णास्त्वेते प्रकीर्तिताः ।
अत्र वर्णशब्देन गीतिरभिधीयते । नाक्षर-विशेषाः ॥
··················नाऽपि षड्जादि-सप्तस्वराः ।
························तथा च भरतः ।
प्रथमा मागधी तत्र द्वितीया चार्धमागधी ॥"

आदि १०-१२- श्लोकों में 'मागधी,' 'शुद्धा' एवम् गीतियों का वर्णन किया है तथा उनके आगे—

"अतस्तदाश्रया अलंकारा उच्यन्ते :—
नि कूजितमलंकारमह्निं विदुरेव च ।
प्रेङ्खोलितमथाक्षिप्तं विधूता-रिते तथा ॥-॥"

आदि १२ श्लोकों में अलंकारों का विवरण दिया गया है । पृ० ७५ पर इनके आगे ही गमकों का वर्णन—

"गमकानामतो वक्ष्ये नाम-लक्षण-भेदतः ।
स्फुरितं कम्पितं लीनं तिरिपान्दोलिते तथा ॥-॥"

आदि सात श्लोकों द्वारा किया है ।

"रसाश्छन्दांसि देवाश्च ये चास्मिन् गीतके स्थिताः ।"

आदि १२ श्लोक राग, छंद, एवम् गीति के रस, देवता तथा काल आदि के वर्णनात्मक पृ० ७६–७७ के प्रारंभ में दिये हुए हैं :—

"यस्य यस्य तु रागस्य या या भाषा प्रकीर्तिता ।
तस्य तस्यैव यः कालः स तासामपि कीर्तितः ॥–॥
अर्था (?) श्रेयो विशेषाय कालस्य नियमः स्मृतः ।
गीयते सर्वकालेषु सर्वा नित्यार्थ-सिद्धये ॥–॥" इ०

इस अध्याय के अंतिम श्लोक विलुप्त हैं, क्योंकि उपरोक्त "गीयते सर्वकालेषु..." के आगे,

"अत्र श्रुतिस्वरग्राम-मूर्च्छना-तान-जातयः ।
सालङ्कारा सगमकाः पूर्वं तु गदिता मया ॥"

आदि श्लोक प्रारंभ होते हैं । मेरी संमति से इन श्लोकों का स्थान ७ वें अध्याय के प्रारंभ में होना आवश्यक था । इसका विवेचन आगे किया जायगा । पांचवें अध्याय में दी गई सूची के अनुसार–

(१) अलंकार, (२) वर्ण, (३) गीति, (४) स्वरार्थ, रसभेद से प्राप्त काकु भेद, (५) वादी संवादी श्रुतियों की कल्पना (६) गीत–वस्तु के अंग, (७) गायक, इतने विषयों का समावेश प्रस्तुत अध्याय में होना आवश्यक था; किंतु इस अध्याय में क्रमांक (४), (५) तथा (६) इन विषयों को समाविष्ट नहीं किया गया है । जैसे काकु का विवेचन ९ वें अर्थात ध्रुवाध्याय में पृ० १४२ पर तथा पृ० १४३ के कुछ अंश तक किया गया है । "द्विधा काकुः साकाङ्क्षा निराकाङ्क्षा च ॥" आदि श्लोक उसके दर्शक हैं । इसके विपरीत ध्रुवाध्याय की सूची में, "ध्रुवाणां विनियोगश्च तदंगालंकृति-स्तथा" इस प्रकार काकु–वर्णन के दर्शक श्लोक होते हुए भी यही वर्णन दो–तीन अध्यायों में उनकी विषयसूचि के अंतर्गत दिया गया है । यह भूल ग्रंथकर्ता की है, यह मानने की अपेक्षा इसे लिपिकार की भूल मानना मैं उचित समझता हूं । संक्षेप में अध्यायों के विषय मेल कर किसी अन्य व्यक्ति ने ये श्लोक रचे हैं । अन्य कई अध्यायों में भी इसके प्रमाण मिल सकते हैं । अस्तु ।

इस प्रकार एक से पाँच अध्यायों के विषय तथा उनका क्रम एवं संबन्ध हमने ऊपर बताया है ।

संदर्भ—ग्रंथों की सूचि तथा संकेत

I.

Aa.— Aine-Akbari (आयने-अकबरी).

Ab.—अमृतबिन्दु उपनिषद्

Acoust.—Musical Acoustics, by Thorvald Kornerup.

(ad.—अड्यार संस्करण)

Anc. Arab. M. Instru—Ancient Arabian Musical Instruments, by Robon & Farmer.

Anc. Ind.—Ancient India, by R. C. Majumdar.

Artx.—Harmonics of Aristoxenus, by Macran.

B.—भरतनाट्यशास्त्र

B. B.—भरतभाष्य

B. K.—भरतनाट्यशास्त्र निर्णयसागर संस्करण, का०पाठ

(Bn.—बनारस संस्करण)

Cult. Art. Ind.—Culture and Art of India, by Radha Kamal Mukerji.

Catg. Mus.—Catalogue of Stearn's Collection of Musical Instruments, by Stanley.

D.—दत्तिलम्

D. C. M.—Discriptive Catalogue of Sanskrit Manuscripts, Madras orintal Library.

Drama.—Sanskrit Drama, by Keith.

Encyclo. Mus.—Encyclopédie De La Musique -Part I (Paris-1913).

Fx.—Music of Hindostan, by Fox Strangways.

(G.—पूना 'घारपुरे'-संस्करण)

H.—The Sensations of Tone, by Helmholtz.

H. Arab. M.—History of Arabian Music, by H. G. Farmer.

Hin. Cult.—Fundamentals of Hindu Faith and Culture, by R. S. Aiyar.

Hist. Fact. Arab.—Historical Facts for the Arabian Musical Influence, by Farmer.

H. M.—History of Music, by stafford.

H. ......n.—Notes, by Ellis to the Sensations of Tone.
Instru.—Guide to the Collection of Musical Instruments exhibited at the Calcutta Musium, by Dr. A. M. Meerworth.
Khus.—Life & works of Amir Khusrao, by Dr. M. M. Wahid.
Lg.—Babylonian and Hebrew Musical Terms, by S. Langton, (journal of R. A. Society, London -1921).
M—मतंग (-बृहद्देशी)
Mus. Anc. Nat.—Music of the Most Ancient Nations, by Engel.
M. Arab.—Music & Musical Instruments of the Arabs, by Salvador-Daniel) (H. G. Farmer).
M. Instru. Arab.—Arabian Music and Instruments, by Farmer.
N.—नारदी शिक्षा
Philmus.—Philosophy of Music, by Alexander Wood.
Phymus.—Physics of Music, by Lord.
Pp. S.—पुष्पसूत्र ('फुल्लसूत्र'), by R. Simon.
P. S.—पाणिनीया शिक्षा
Psymus.—Psychology of Music, by Seashore.
R.—संगीतरत्नाकर
S.—संगीतसमयसार
Sound.—Text-Book of Sound, by Edmund Catchpool, (1917)
Study. Mus.—Studies in the Theory of Indian Music, by E. Clements. (1913)
Sumer. Mus.—The Music of the Sumerians & Their Immediate Successors the Babylonians & Assyrians, by Francis W. Galpin.
Tg. C.—Hindu Music by Various Authors, by S. M. Tagore (1875).
Tre.—त्रैस्वर्य (याज्ञवल्क्य)
Ved. Age.—Vedic Age, by R. C. Majumdar etc.
Ys.—याज्ञवल्क्य शिक्षा

II.

अ० — अमरकोष
अ० प० — अनुपर्व (महाभारत)
अ० वे० — अथर्ववेद
अष्टा० — अष्टाध्यायी
ओं० — 'प्रणव-भारती' (पं० ओंकारनाथ-कृत)
ऋ० प्रा० — ऋग्वेद प्रातिशाख्य

ऋ० वे० — ऋग्वेद

ऐ० आ० — ऐतरेय आरण्यक

क० — कल्लिनाथ (टीका)

का० — का-पाठ, भरतनाट्यशास्त्र, निर्णयसागर संस्करण

गो० ब्रा० — गोपथ ब्राह्मण

च० अ० — चतुरध्यायी

ता० ब्रा० — ताण्ड्य महाब्राह्मण

तै० प्रा० — तैत्तिरीय प्रातिशाख्य

त्रै० स्व० — त्रैस्वर्य (याज्ञवल्क्य)

द० — दत्तिलम्

ना० शा० — भरतनाट्यशास्त्र

ना० शि० — नारदी शिक्षा

(पट० — पटवर्धन ल० ग०)

प० म० भा० — पतञ्जलि-महाभाष्य

पा० — पाणिनि (अष्टाध्यायी)

फु० सू०— फुल्लसूत्र ('पुष्पसूत्र')

बृ० — 'भरत का संगीत सिद्धान्त' (पं० कैलासचन्द्र-देव-कृत)

बृ० दे० — बृहद्देशी (मतंग)

बृ० देव० — बृहद्देवता

भ० ना० — भरतनाट्यशास्त्र

भा० सं० — 'भारतीय संगीत' (पं० मुळे-कृत)

भात० क्र० — 'हिंदुस्थानी संगीत पद्धति' क्रमिक पुस्तक मालिका

म० भा० — महाभारत

मां० शि० — माण्डूकी शिक्षा

मु० — 'भारतीय संगीत' (पं० मुळे-कृत)

य० वा० सं० — यजुर्वेदीय वाजसनेय संहिता

रू० — रूपमाला

वा० प्रा० — वाजसनेय प्रातिशाख्य

शो० — शोभाकर (टीकाकार)

सं० क० वि० — 'संगीत-कला-विहार' मासिक

सं० र० — संगीत-रत्नाकर (शार्ङ्गदेव)

सं० स० सा० — संगीत-समय-सार (पार्श्वदेव)

सा० वि० ब्रा० — सामविधान ब्राह्मण

सिं० — सिंहभूपाल (टीकाकार)

III. अध्याय आदि के संकेत

अ० — अध्याय
अनु० — अनुवाक
कं० — कण्डिका
क्र० — क्रमाङ्क
टी० — टीका
स्प० — स्पष्टीकरण
वि० प्र० — विषय-प्रवेश
ह० लि० — हस्तलिखित (भरतभाष्य)

IV. स्वरों के संकेत

c: सेण्ट्स्
n: Natural (वैज्ञानिक)
r: ratio, अनुपात (गुणोत्तर-प्रमाण)
v. Vibrations, कंपन-संख्या
अं० का० — अन्तर-काकली
कै० — कैशिक
हिं० — हिंदुस्तानी (उत्तर-भारतीय)

V. निम्न-कोष्ठस्थ संकेत

Ad: उद्धृत (Adopted)
F: संदर्भ (Reference)
M: मूल पाठ (ह० लि० का)



भरतभाष्यस्य

विषयसूचिः

[प्रकरण-क्रमः पृष्ठाङ्कैः; विषय-क्रमः श्लोकाङ्कैर्दर्शितः ।]

135

मृनो वनीनि करणा मध्य षड्जी गांधारजो पि यथाक्रमं। दधावती रजनी समस्याने पिका। षड्जगांधारो पिच दीमाया आयता या अपि क्रमात्। मैत्री क्षोभर्वना मेनि विद्रीतां मस्तुदावती। मध्यम पंचमादीमा

कलिना मृदु मध्यम पञ्चानां चकरणा या अपि पंचमादिति सेन्यया मर्वापिनालापिनी नियामि वैनेककरणा।

मध्यम षड्जी गांधारयथाक्रमं। नीदिनी लाङ्गिपीरमस्थानी पिना मानिआनेता निषादे तथा दीमा यवा सुन्दा नक्रमा ता अयायलोनि णी विदनाम ह्रितय मीतिति॥ छः॥ अथ धामान दाः आयता याः मते दीर्घमन्दा पन्या तिथा स्मृत। पंचमानमध्यमयाम भाये वत मध्यजनेतु मृदवी नृस्वसम्रवदाप्या षड्जमध्यमा यास्तथा मंदी प्रोक्तिक्ती अनिन्यास्त यथाक्रमम्। पाचिताः नीकार स्तुमके याम क्षतः अनिकरया ता। ग्राम षड्जश्रुताखा सुस्व घ स्वं वम ना यषड्जस्वर परिच्छम मृदुमदा निषाहतौ। गानिधीयें ताल स्व

बतुर्थ द्याप्ति नियादीपा निष्पत्रा कुष मीह्रि अनि षड्जस्वस्य आरण्य दाप्यंचमेव पे नियज मृदु मान्यनिधाय दा। गांधारमति मयूर्वा गर्भ धन्यापंता स्तिवय दा गर्भे दश घ्या वर्रिका त्रिक्षा गांधारवा नदा यच्च स्वरस्मारणे नथा एवं मध्यम गीश्च स्व्या मया यो लयारपि शाकलीं तरा याग लम्न रमा अस्वरे पिचा गांधारणे नि षादे न विधी नयाऽ रे वा यशा गय स्वारछ अनाय ता। अतपो विंशति यथा। क्षण यन णाविधीना श्रेणिवेनाथ भाऽ इरंत ताप मासस्तु अ तथ तन्न विशति अन पै वमना था विद्या म स्वा वा यया।

— भरत भाष्य, पत्र – १२
अ० २

स्तानां इति। २॥ अधुना तान् ग्रीस्यां ग्रामेषु त्रि धत्तुक्रमाता॥ अथ तारे ग्रामत्रयाणां नामतानुषड्ज संज्ञा तया इति षड्ज गांधार मध्यम पंचम
निवनानि षाड्व क्रमात् कने पतु ग्रामके स्यासन् स्वरांश्रे स्वरामपधनीयं ने सरिग स स्वरिन्यास सेन मध्यमग्राम मासाद्य कथितायं
स्वर क्रमात् गमपधनिस रीति ग्रामो गांधार ऊर्ध्वलक्ष्म जात अनुक्रमतो ववानु सप्त निवेशात् येन अयं ग्रामस्त्रिशत्य तः पंच साद्ग्राम
तुर्सिं स्थाया। विशिष्टा ग्राम एकस्मिन् तानानीतानत्वदिति स्वविंशा निस प्रस्तानी मध्यकमपि षाड्व मातृकामोडव विंशाल्य धिकंता
न मिश्रिता केचिदिष्ट यावच्छत्रु ध्रुवा ग्रामानाप यागतः चतुःस्वर प्रयोगस्तु धुनितानाप दर्शितः किंवा गान्धस्य स्वरु त्वाद्धि द्विशानी वन
षाड्व ना अंश दिक सप्तस्व्याज्यता सानप्याच्छनिः। एवं ग्राम मध्यमास्य विशेषत्वचषाडवेः अउवद्वितयेनापि पाव उत्स्व रण्व
दूर्लिन जायन्त्र सप्तादश्रीनानानदकः। चतुर्धा तीन प्यास प्तस्वाद्र्वा शाधिका षड्ना गांधारग्रामेनया याम एकस्माभि त्पोडवेःयाडवे ४५
नादि मे स्वरावयाच्चतुःस्वर स्पर्श भारसनिवचव ताने संख्या सद्कव्य ता॥ नानार्थानमनवति सद्मा ष्यसंघ सह्वा॥ गांधारग्राम
मामाध्य सस्वय नतु राग्न तं ग्राम न मविद्वेव स्यात् मंस्याम सधुस्य ततः॥ एकपद्रधार षिकापं नत्सदश्यातीनयो। द्वाविंशाति
न द्वाति नता स्तुः वन रुक्तितः ओत्स्वकुनस कनिर्वंतरे कांतर विवादिना म पश्चिमातान् रदेन्यहत्स्ने स्वन पन पतन्या स्वा
न्याएको नपंचा त्र द्वननानाः पदमिनास्त तातायालि पिभन्याग्रांगतया पुनरुक्तैः पंच विंशा दुः। स ह ग्राम स्म विचेर मनि

—भरत भाष्य अ० ४, ५०१४ /४८

॥ श्रीगणेशाय नमः ॥

श्री – नान्यभूपाल – प्रणीतम्

भरत – भाष्यम्

श्री – चैतन्य – देसाई – विरचितया संजीवन्याख्य – टीकया समेतम्

प्रथम उद्देशाध्यायः

१ तत्रादिमं संगीतप्रयोजनाख्यं प्रकरणम्

॥ श्रीगुरुभ्यो नमः ॥

....

...........यन्ति सम्यग् गीति-प्रयोगतः ॥ १ ॥

जानीन (?)....मा कोऽपि यासां शुद्धप्रयोगतः ।
काश्मीर-तीरतो.....................मुनीश्वरः ॥ २ ॥

टी०:— जयति स्वरतालतनुर्ध्रुवपदन्यासः कलारागलसदङ्गः ।
संगीत-समाधि-मग्नो विश्वरूप-नटन् नटराजः ॥ १ ॥
शारदां च गणेशं च नमस्कृत्य मुनिं तथा ।
भरत-भाष्यं व्याख्यातुं नान्यदेवस्य युत्सहे ॥ २ ॥

आसीन्मृदुर्यस्य श्रुतेर्विलासः ।
शिलामपि द्रावयितुं समर्थः ॥
क्षणे क्षणे यस्य कथा नवीना ।
अब्दुलकरीमं च गुरुं नमामि ॥ ३ ॥

शास्त्रं नु संगीतकलां निमृश्य ।
शास्त्राणि लक्ष्यानुगतान्यतानीत् ॥
प्राचीनप्रबन्धान् भरतावतारः ।
श्रीभातखण्डेश्वरितं स्मरामि ॥ ४ ॥

दत्तिलो भारती वाणीं सूत्रयामास पुत्रकः ।
मतंगो वार्तिकं चक्रे, भाष्यं तु नान्यदेववत् ॥ ५ ॥

स्प०—ग्रंथ का प्रारम्भिक भाग प्रायः लुप्त सा है। इसका उल्लेख 'ग्रंथपरिचय' प्रकरण में किया जा चुका है।

M: १ माकोपि २ मु-

अन्यान्यपि हि गीतानि प्रयुक्तान्यपि लुब्धकैः ।
अरण्येह...॥ ३ ॥
यथाविधानेन पठन् सामगो[1] यत्र मध्यमेम् ।
सावधानस्तदभ्यासात्परं ब्रह्माधिगच्छति ॥ ४ ॥

(तथा च याज्ञवल्क्यः)

"द्वे ब्रह्मणी वेदितव्ये, शब्दब्रह्म परं च यत् ।
(शब्दब्रह्मणि निष्णातः) परं ब्रह्माधिगच्छति" ॥ ५ ॥
अपरान्तकमुल्लोप्यं मद्रकं प्रकरी तथा ।........
ओवेणकं च रोविन्दमुत्तरं गीतकानि तु ॥ ६ ॥
ऋग्गाथा पाणिका दक्षविहितं ब्रह्मगीतकम् ।
ज्ञेयमेतत्तदभ्यास-करणाचोक्त-संज्ञितम् ॥ ७ ॥

गीतं वाद्यं नाट्ययोग्यं च पाठ्यम् ।
शास्त्रेऽस्रोचद् भारतीये मुनिर्यत् ॥
संक्षिप्तत्वाद् दुर्ग्रहं तस्य तत्त्वम् ।
भाष्ये स्वीये व्याकरोन् नान्यदेवः ॥ ६ ॥
शीर्णस्य तस्य ग्रन्थस्य शुद्धिः सयोजनं कृतम् ।
चैतन्येन तथा भाषाटीका 'संजीवनी' कृता ॥ ७ ॥
महाराष्ट्रे रत्नगिरौ ग्रामः कुडाल-मण्डले ।
नेरूरो नाकप्रतिमः कालेश्वर-कृपादृतः ॥ ८ ॥
'प्रभु-देसाई'ति तत्र पुरा गौडाप्रतिष्ठितः ।
वंशोऽस्ति तस्मिञ्जातेन पुण्डरीकात्मजेन हि ॥ ९ ॥
कृतेयं भरतभाष्य-टीका चैतन्य-शर्मणा ॥
शास्त्राण्यालोच्य सर्वाणि निर्मथ्य मितानि च ॥ १० ॥
प्राचां मनोगतं शुद्धं टीकायां चात्र कथ्यते ।
सारं गृह्णन्तु तुष्यन्तु सन्तास्तु शुद्धबुद्धयः ॥ ११ ॥

Ad: (५) Ab. ५७

M: १ रो २ मा ३-सा- ४ पः ५-धो ६ ऊ- ७ गाथां प ८ गेवने तत्र पाभ्यासकरेण स्यातसंज्ञितं ९ -सा-

"वीणा-वादन-तत्त्वज्ञः श्रुति-जाति-विशारदः ।
तालज्ञश्चाप्रयत्नेन मोक्षमार्गानुगो भवेत्" ॥ ८ ॥
योऽधीतेऽहन्यहन्येतांस्त्रीणि वर्षाण्यतन्द्रितः ।
स ब्रह्म परमभ्येति वायुभूतः खमूर्तिमान् ॥ ९ ॥
गीतज्ञो यदि गीतेन नाप्नोति परमं पदम् ।
रुद्रस्यानुचरो भूत्वा तेनैव सह मोदते ॥ १० ॥

२ अथ द्वितीयं पदार्थ-संग्रहाख्यं प्रकरणम्

अध्यायैः सप्तदशभिर्ग्रन्थेऽस्मिंश्च करिष्यते ।
साङ्गं सलक्षणं चैव सालङ्कारं च वाचिकम् ॥ ११ ॥
अथाध्याये 'समुद्देशे' (ऽध्यायानां च) यथाक्रमम् ।
आतोद्यस्य भिदाश्चैव गीतस्य गुणदोषयोः ।
कण्ठस्य गुणदोषौ च यादृशो गायिनस्तथा ॥ १२ ॥
अध्याये तु द्वितीयेऽत्र 'शिक्षाख्ये' कथयिष्यते ।
वर्णोत्पत्तिर्वर्ण-संख्या वर्णस्थानानि यानि च ॥ १३ ॥
वायोरुदयहेतुश्च स्थानं तथैव वाहभिः (?) ।
स्थानान्यथ ध्वनिश्चैव तस्योदात्तादि-धर्मता (?) ॥१४॥
स्वरत्वमपि च स्वर······················त ।
एवं द्वितीयेऽध्याये च संग्रहः कथयिष्यते ॥ १५ ॥
ततोऽध्याये तृतीये च 'स्वराणां' कथयिष्यते ।
वर्ण-जाति-ध्वनिं सऋषि-देव-(छन्दांसि)······॥१६॥
श्रुतिमण्डलतो ग्रामत्रयश्च श्रुतिभेदतः ।
ग्रामत्रयविभागश्च, ग्रामेषु च स्वरक्रमः ॥ १७ ॥

स०—श्लोक ५ से १० तक के प. १८३ (अ. ११) ऊपर पुनरुक्त हैं ।

Ad: (८) 15. ३।११५

G1: १-मूर्तिः २ म- ३-राम ४ ष- ५-गा ६-स- ७ पो ८-रा.

श्रुतीनां संनिवेशश्च तासां संख्या च……… ।
यावत्यः श्रुतयो नाम………तस्य तत् ॥ १८ ॥
ततश्चतुर्थेऽस्याध्याये चतुर्धा 'मूर्च्छना'-विधिः ।
षाडवौडवे-भेदेन स्वरसाधारणं तथा ॥ १९ ॥
संख्या………………नाम च वक्ष्यते ।
प्रस्तारयोगस्तानानां संनिवेश-क्रमस्तथा ॥ २० ॥
षाडवौडवपूर्णैश्च तथा चतुःस्वरेण च ।
यावती तान………………य-विकल्पजा ॥ २१ ॥
एवं च पञ्चमेऽध्याये'ऽलङ्काराख्ये' च वक्ष्यते ।
सलक्षणा च पञ्चाशत्स्वरालङ्कार-पद्धतिः ॥ २२ ॥
ये चाष्टौ नारदप्रोक्ता ऋग्यजुःसामवैदिकाः ।
पाणिनीया अलङ्कारा ये चोक्ताः सप्तविंशतिः ॥ २३ ॥
*अष्टादयस्तु वर्णाश्च गीतयस्तु तथा *दश ।
स्वरार्थ-रस-भेदेन †कालभेदास्त्वनेकशः ॥ २४ ॥
‡(स्वराणामपि संवाद-विवादौ श्रुतिकल्पितौ ।
अनुवादस्तथा चात्र ग्रामत्रय-विभागतः ॥ २५ ॥)
अङ्गानि गीतवस्तूनां स्युरष्टाविंशतिः क्रमात् ।
गमकाः सप्तधा चात्र वक्ष्यन्ते नातिविस्तरात् ॥ २६ ॥
'जात्यध्याये' च षष्ठेऽपि दशलक्षण-लक्षिताः ।
जातयः सप्त शुद्धाश्च विकृताश्च तथाऽपराः ॥ २७ ॥

स॰— *'अष्टादय' या 'अष्टादश' वर्णों की संख्या ठीक नहीं है, तथा 'गीति' भी 'दश' उपयुक्त प्रतीत नहीं होती ।

† यहा 'काकु' शब्द उचित नहीं लगता ।

‡ श्लोक २५ यहा प्रक्षिप्त लगता है ।

M : १ -दु- २ वर्णा- ३-स ४ -नि ५ -स्व- ६ -कु- ७ एकतानम्.

एकादश; चतु·········ता अष्टादश च नामतः ।
संकीर्णोत्पन्न-भेदाश्च जातीनां समुदाहृताः ॥ २८ ॥
ग्रहादंशादपन्यासात्, षाडवौडविताद॒पि ।
संख्या चैतावतामेव; कपालानि च पाणिकाः ॥ २९ ॥
लक्षणं चैतयोः, सप्त-कम्बलानां तथैव च ।
वक्ष्यते विस्तरोऽध्याये षष्ठे जात्यभिधे मया ॥ ३० ॥
अथ 'रागोत्पत्ति'नामन्यध्याये सप्तमे पुनः ।
लक्षणं मूलरागाणां तथा च ग्रामरागयोः ॥
उत्पन्नयोर्मूलपंक्ते तथा भाषा-विभाषयोः ॥ ३१ ॥
एवमन्तरभाषाणां क्रियाङ्गाणां च सर्वशः ।
उपरागजानामेवं च देशाख्यानां तथा पृथक् ॥ ३२ ॥
[13]महादंशादपन्यासान्न्यासाच्चापि पृथक् पृथक् ।
रागाणां रूपनिष्पत्तिस्तथाऽऽलापक-रूपके ॥ ३३ ॥
*(विनियोगोऽलङ्कृतीनां गमकानां तथैव च ।)
संक्षेपाद्‌ वक्ष्यते सम्यक् सर्वमेतदनुक्रमात् ॥ ३४ ॥
ततोऽष्टमेऽपि चाध्याये 'सप्तगीतक'-संज्ञके ।
आसारितानि सर्वाणि वर्धमानानि यानि च ॥ ३५ ॥
अपरान्तकमुल्लोप्यं मद्रकं प्रकरी तथा ।
[14]ओवेणकं सरोविन्दमुत्तराख्यं[15] च सप्तमम् ॥ ३६ ॥

स्प०— *यह पंक्ति यहां प्रक्षिप्त है, कारण अलङ्कार और गमक का विषय इस अध्याय में न आकर पाँचवे अध्याय में आया है ।

(३६) 'ओवेणक' पाठ शुद्ध रहेगा ।

F: (३६) B. 'आरेणक, उवे०' ३१।१८८,२७१ इ०
B. ५।५३,१४३, B. B. अ० ८ में 'आवेणद' दिया है ।

M: १ एकद्विनि ११ कथाद्देनथ २ भेदाश्च, ३ समुमावाय्याया ४ -त् ५ संविरात्यपि
६ -पता- ७ -जाया ८ -क ९ -या १० -यों ११ क्रियाङ्गाना १२ च
१३ महोपान्त मनभ्यासा १४ उपेणकं; १५ रव्ये

सामानि चाप्यनेकानि ऋचो गाथास्तथा पुनः ।
सामाङ्गानि च सर्वाणि ऋग्गाथाङ्गानि यानि च ॥३७॥
गीताङ्गानि तथैवात्र विनिर्दिष्टानि चाप्यथ ।
अष्टमाध्यायविषये विस्तरः कथयिष्यते ॥ ३८ ॥
ततोऽपि नवमेऽध्याये 'ध्रुवाख्ये' कथयिष्यते ।
ध्रुवाणां लक्षणं सम्यक् नामानि च यथाक्रमम् ॥३९॥
[1]आक्षिप्तिकी ध्रुवा या च तथा [3]प्रावेशिकी च या ।
[4]प्रासादिकी चान्तराख्या नैष्क्रामिकी क्रमात्तथा ॥४०॥
नियमोऽथ [6]विरामाणां रसानां च विशेषतः ।
याश्च ह्यक्षरसंख्याताः प्रयोक्तव्या हि (जातयः) ॥४१॥
*(निरूपणं च रागाणां तालानां च निरूपणम् ।)
पाठ्यं च पुष्पगण्डादि स्थानत्रय-निरूपणम् ॥ ४२ ॥
काकूनां विनियोगश्च तदङ्गालङ्कृतिस्तथा ।
सर्वमेतदशेषेण ध्रुवाध्याये विधास्यते ॥ ४३ ॥
ततस्तु दशमेऽध्याये('ताला)ख्ये' कथयिष्यते ।
तालानां लक्षणं सम्यक् तथा भङ्गोपभङ्गयोः ॥ ४४ ॥
विभङ्गस्य च कार्त्स्न्येन तालानां च निरूपणम् ।
सशब्द-निःशब्दतया तालानां च यथाविधि ॥ ४५ ॥
ध्रुवादीनां तु वर्णानां सशब्दे विनिवेशनम् ।
चतुर्णामपि पादानां निःशब्दे संनिवेशनम् ॥ ४६ ॥
[11]वृत्ताश्रितानां तालानां लययोगानुकीर्तनम् ।
नामयोगश्च तालानां तथा संख्या च सर्वशः ॥ ४७ ॥

स्प०— *यह पंक्ति यहा प्रक्षिप्त है ।

F: (४०) B K. ३२।२७–२८

M: १ दधुच २ अक्षिप्ता ३ प्रावेष्पिका ४ प्रसादि ५ पंचमीति ६ दिपयाणां ७ द- ८ रणं ९ द्वादशे १० –द्व– ११ धृद्धया–

तत एकादशेऽध्याये 'देशिकाख्ये' विधास्यते ।
लक्षणं देशिगीतानां तालयोगस्तथैव च ॥ ४८ ॥
एलानां लक्षणं सम्यक् संख्यानि च पदानि च ।
तालानां विनियोगश्च तथैवासु पृथक् पृथक् ॥ ४९ ॥
पदं च विरुदं[2] चैव [3]तेनस्तालस्तथैव च ।
पादस्वरौ च षडपि प्रोक्तान्यङ्गानि यानि च ॥ ५० ॥
देशिगीत-प्रयोगैर्ढेङ्कि-क्रौञ्चपदौ तथा ।
नियमस्तालयोगेन स्तोभैरश्च पदैरपि ॥ ५१ ॥
×(······························निःशब्दे संनिवेशनम् ।
वृत्ताश्रितानां तालानां लय-योगानुकीर्तनम् ॥ ५२ ॥
नामयोगश्च तालानां तथा संख्या च सर्वशः ।)
अथ त्रयोदशेऽध्याये 'सुषिराख्ये' च कथ्यते ।
वेणूनां ग्रामभेदेन तथा रन्ध्राङ्गुलि-क्रमः ॥ ५३ ॥
सर्वार्ध-किञ्चिन्मुक्तत्वाद् वेणुरन्ध्राङ्गुलीकृतः ।
स्वराणां श्रुतिभेदश्च संक्षेपात्कथयिष्यते ॥ ५४ ॥
शङ्खादीनां च वाद्यानां सुषिरान्त-निवेशनम् ॥ ५५ ॥
ततश्चाध्याययुग्मेन 'पुष्कराख्ये'न वक्ष्यते ।
चतुर्दशेन चान्यत्र तथा पञ्चदशेन च ॥ ५६ ॥
पुष्कराणां प्रभेदश्च चर्मनद्धपुटस्तथा ।
पृथङ्नद्धपुटत्वाच्च वाद्यभाण्डस्य वाऽप्यथ ॥ ५७ ॥

स्प०—उपरोक्त तीनों पंक्तियाँ यहा प्रक्षिप्त और पुनरुक्त हैं; कारण, ये तालाध्याय की सूची में पहलेही आ चुकी हैं ।

× १२ वे अध्याय की सूची के श्लोक लुप्त हैं ।

१ (५८) K. ४।१२

[: १ सु   २ -रु   ३ तेन पद्यात्र पृथ च ।   ४ पाद् स्वरं   ५ -का०;   ६ पाश्व-   ७ देशेष्टः   ८ कृष्णा-   ९ सुषिराख्य   १० धर्माश्च्ये हृदः ।   ११ पुष्करा

पाटाक्षराणि षोडश; जातयोऽष्टादशापराः ।
गतयश्च तथा तिस्रः सामान्या याः प्रकीर्तिताः ॥ ५८ ॥

मार्गाणां चैव भेदाश्च करणानि लयैः सह ।
सर्वमेतदशेषेण वक्ष्यते नातिविस्तरात् ॥ ५९ ॥

'छन्दोऽध्याये' षोडशे तु वक्ष्यते च ततः परम् ।
सममर्धसमं चैव विषमं च तथा पुनः ॥ ६० ॥

मात्रावृत्तान्यशेषेण प्रस्तारविधिरेव च ।
संख्यानं छन्दसां चैव प्रत्ययाः षट् तथा च ये ॥ ६१ ॥

उक्तादिसंस्कृत्यन्तं च विस्तरो नाम नामतः ।
संक्षेपात्सर्वमेतत्तु छन्दोऽध्याये विधास्यते ॥ ६२ ॥

ततः सप्तदशेऽध्याये 'भाषाविध्य'भिधे पुनः ।
भाषाणां चैव सर्वासां विस्तरो वक्ष्यते क्रमात् ॥ ६३ ॥

संस्कृतं प्राकृतं चापि मिश्रं पैशाचिकं तथा ।
अपभ्रंश-विधिश्चैव भेदाः प्राकृत-संस्कृताः ॥ ६४ ॥

यत्संस्कृत-भवं चैव तत्समं प्राकृतं तथा ।
देशी-शब्दाश्च ये तद्वद् भेदाः पैशाचिकस्य ये ॥ ६५ ॥

लक्षणानि च सर्वेषामथापभ्रंशजातिजाः ।
नाट्योक्ताश्चापि ये शब्दाः संस्कृते प्राकृते तथा ॥ ६६ ॥

एतत्सर्वं तु विज्ञेयं वाचिकाङ्गस्य संग्रहे ।

३ अथ तृतीयमातोद्य-विस्तराख्यं प्रकरणम्

यदुक्तं प्राद्यायाऽऽतोद्यं तस्य वक्ष्यामि विस्तरम् ।
चतुर्विधत्वादेकैकं द्वैविध्यादष्टधा पुनः ॥ ६७ ॥

स्प०—१७ अध्यायों की सूची यहा पूर्ण होती है ।

M· १ पादा- २ वाद्यौत्ती

तंतं तु सुपिरं चैवमवनद्धं घनं तथा ।
चतुर्विधमिहातोद्यं, प्रत्येकं द्विविधं पुनः ॥ ६८ ॥
ततं तन्त्रीगतं ज्ञेयं, सुषिरं वंश उच्यते ।
पौष्करं त्ववनद्धं स्याद्, घनं तालोऽभिधीयते ॥ ६९ ॥
दारवी गात्रवीणा च ततं द्विविधमिष्यते ।
गीत-वाद्य-प्रभेदेन वेणु-शङ्ख-समाश्रयम् ॥ ७० ॥
द्विविधं सुषिरं नाम कथितं गीतवेदिभिः ।
चर्मनद्धं-पुटं चैषां पृथग्बद्धपुटं तथा ॥ ७१ ॥
अवनद्धस्य च प्रोक्तमेवं भेदद्वयं तथा ।
यो निःशब्दः सशब्दश्च तालोऽपि द्विविधः स्मृतः ॥ ७२ ॥
तननादुच्यते तन्त्री मानवी दारवी च या ।
विज्ञायन्ते स्वरान् ग्रामानुभे वीणे प्रकीर्तिते ॥ ७३ ॥
श्रुतयोऽथ स्वरा ग्रामा मूर्च्छनास्तानसंयुताः ।
स्थानानि वृत्तयश्चैव शुष्कसाधारणे तथा ॥ ७४ ॥
जातयश्चैव वर्णाश्च नानालङ्कारसंयुताः ।
दारव्यां (समवायोऽयं वीणायां) समुदाहृतः ॥ ७५ ॥

टी०—(६९) यहां 'घन'की व्याख्यामें 'ताल' शब्द 'करताल' जैसे वाद्यों का बोधक है ।

(७३) इस श्लोकमें 'तन्त्री' और 'वीणा' शब्दों की निरुक्ति दी है ।

(७४–७६) i 'शारीर' और 'दारवी' इस तरह वीणाके दो भेदकी कल्पना ना. शा. में कुछ अस्पष्ट थी, वह नान्यभूपालने स्पष्ट की है ।

ii यह वर्णन ना. शा. २८।१२–१८ में आया है । यहां स्वर, ग्राम, मूर्च्छना आदिकी व्यवस्था वीणा ऊपर कर लेनी पडती है, किन्तु कंठमें उसकी आवश्यकता नहीं है, यह कहनेका आशय है ।

iii श्लो. ७६ की प्रथम पंक्तिमें 'जातिः' शब्द अधिक प्रयुक्त है ।

F:(६८) B २८।१ E ६।४; (६९) B. २८।२; E. ६।५–६

M: १ ततः २ घनं; ३ शुषिरो ४ घनः ५ तं- ६ -द्धं; ७ -क्तमेवं ८ तानथा ९ स्वराग्रामान्यो १० पुष्क-

स्वरा ग्रामाः स्थानविधिर्जातिः साधारणे तथा ।
[1]स्वरालङ्कार-वर्णाश्च जातयश्च शरीरजाः ॥ ७६ ॥

×श्रुतयो [2]मूर्च्छनास्तानाः शुष्कं [3]धातुश्च वृत्तयः ।
कण्ठे सत्यपि न ह्येता व्यक्तिमायान्ति कर्हिचित् ॥७७॥

×यत्किञ्चिन्मनसा गम्यं यच्च कण्ठादि-दुष्करम् ।
दारुवीणासु तत्सर्वं कण्ठहीनोऽपि गायति ॥ ७८ ॥

×[4]रहः परपुरप्रवेशं कृत्वा योगेन गायिनो निपुणाः ।
महसा स्वं पुरा प्रकाशतेरपि (?) ॥ ७९ ॥

*(तत्कलाभिरभिनीतो योगीव मनोऽनुरञ्जयति ॥)
........रञ्जयति (?) मनो न खलु योगी ।
†यां नारदोऽपि नो........तिको (?)
नापि समाधिना क्षणार्धमपि ॥ ८० ॥

[5]यच्छुद्धं काष्ठमात्रं स्रवति........श्रवणपुटपेयम् ॥८१॥

छिन्नेषु नवसु मूर्धसु न तथा तपसा तोषितः स्थाणुः ।
दशवदनस्य यथाऽसौ वीणागीतस्वरै[6]र्मुदितः ॥ ८२ ॥

वाग्देवता भगवती न विना विज्ञायते मया घटितमूर्तिः ।
को वक्तुं हि गुणान् तस्याः शक्नोति [7]नारदात्परः ॥ ८३ ॥

टी०:—(७७) श्रुति और मूर्च्छनाके विषयमें नान्यदेवका यह कथन श्रुतिविषयक अनुसधानकर्ताओं हेतु महत्त्वपूर्ण है ।

स्प०—× चिह्नाङ्कित श्लोक प. १८३ ऊपर (अ. ११) पुनरुक्त हैं ।
†(८०) इसी अर्थका एक श्लोक अ. ११ में आया है ।
* pb प. १८३

F : (७४-७६) B. २८।१२-१८

M : १ त्रियलङ्कार- २ स्वच्छेना ३ धीतुश्च ४ रहा [१ आह (प. १८३)] ५ यच्छुद्धः
६ यवश्रं गुणवासितस्था ऽ ७ नारदपरः

दारवी या तु तत्रापि[1] नाम तत्री समन्विता ।
वक्त्रा कौर्मी तथाऽलाबू त्रीण्यङ्गानि भवन्ति वै ॥८४॥
विपञ्ची वल्लकी मत्तकोकिला च प्रकीर्तिता ।
चित्रा सारस्वती चैव गान्धर्वी ब्राह्मिकेत्यपि ॥ ८५ ॥
एवमादीनि वक्त्रायाः प्रत्यङ्गानि श्रुतानि वै ।
ततः संवादिनी ज्ञेया तथैव परिवादिनी ॥ ८६ ॥
वल्लीसका तु किन्नरी कौर्म्यां अन्यैवमादयः ।
विज्ञानो–(?)नकुला चेद्, अङ्गानि च मनीषिभिः ॥८७॥
अलाबू कौर्म्यां वीणायाः प्रत्यङ्गानि प्रचक्षते ।
इत्येवमादयो भेदा दारव्याः समुदाहृताः ॥ ८८ ॥
शारीरास्त्वङ्गप्रत्यङ्गं हृत्कण्ठ–तालु–दन्तकम् ।
जिव्हानासोरश्च तानि स्थानानि संवदन्त्यपि ॥ ८९ ॥
प्राणवाय्वभिघातान्नानावर्णव्यक्तिर्भवति ।
दारव्यां पुनरुरःकण्ठ-शिरःप्रभृतीनामसम्भवेऽपि
तथा वर्णव्यक्तिरिति ॥ ९० ॥

४ अथ चतुर्थं स्वर-गीत-गुण-दोष-वर्णनाख्यं प्रकरणम्

गीतदोषा यथा–

"शङ्कितं, भीतमुद्घृष्टमव्यक्तमनुनासिकम् ।
काकस्वरं, शिरोगतं, तथा स्थान-विवर्जितम्" ॥ ९१ ॥

टी०:—श्लोक ८४ से ८८ तक वीणा के भेद कहे हैं ।
(९१,९२) ये श्लोक मूलमें ग्रै. स्व. के होने चाहिये; कारण, नारदने 'भवन्ति चात्र श्लोकाः ।' कहा है ।

Ad: (९१) N. ४१३; P. 8 ३४; Tr ३५

M: १-पि २ त्रीण्यर्धांनि ३ मते ४ तत्री ५ वक्त्रायाः ६ पत्रीस्वका ७ नि- ८ मन्यानि ९ कार्यां १० दारव्या ११ प्रत्यङ्गं १२ नासोरश्च १३ गमषड्यनें १४ –याय– १५ दारव्या १६ य–

"विस्वरं, विरसं चैव, विश्लिष्टं, विषमाहतम् ।
व्याकुलं, तालहीनं च गीतदोषाश्चतुर्दश" ॥ ९२ ॥

शङ्कितं कम्पितं ज्ञेयं, भीतं नाम भयात्स्फुटम् ।
रूक्षवर्णमथोद्घृष्टं; अगीतं गुणवर्जितम् ॥ ९३ ॥

अव्यक्तं दन्तसन्दष्टं नासोक्तमनुनासिकम् ।
काकस्वरमतारं स्यान्मन्द्रहीनं शिरोगतम् ॥ ९४ ॥

त्रिस्थान-विकलं गीतं भवेत्स्थानविवर्जितम् ।
विस्वरं घर्घरं चैव विरसं रूक्षित-स्वरम् ॥ ९५ ॥

संयोग-विच्युतं वर्णं विश्लिष्टं प्रवदन्ति तत् ।
नासौष्ठ-दन्त-जिह्वादि-वर्णानां विषमाहतेः ॥
विषमाहतमित्येव ब्रूयुर्वेदविदो जनाः ॥ ९६ ॥

असंगतार्घृतं यच्च व्याकुलं तत्प्रचक्ष्यते ।
अतालं मानहीनं च तालहीनं विदुर्बुधाः ॥ ९७ ॥

अमी चतुर्दशेत्येवं गीतदोषा भवन्ति हि ।
सामगानां प्रयोगे हि नारदेन प्रकीर्तिताः ॥ ९८ ॥

भरतः पुनराह—

"कपिलोऽव्यवस्थितश्चैव तथा संदष्ट एव च ।
काकी च तुम्बकी चैव कण्ठदोषा भवन्ति हि ॥ ९९ ॥

स्प०—(९३) श्लो० ९१-९२ की व्याख्या श्लो० ९३-९७ में की हुई है ।
(९९-११३) ना. शा. अ. ३३ से उद्धृत हैं ।

Ad : (९२) N. ४।२ Tr. २६
(९९) B. ३३।१५-१६

M : १ -रू- २ -मायादस्पृष्टं ३ -द- ४ नामोच्च- ५ विस्वरं ६ नासोष्ठं ७ हितसंहि- ८ -तो- ९ कपिलाव्यवस्थितः १० -द- ११ तुम्बकी

वैस्वर्यं च भवेद्यत्र तथैव घर्घरायितम् ।
कपिलः स तु मन्तव्यः श्लेष्मकण्ठस्तथैव च ॥ १०० ॥
ऊनताऽधिकता वाऽपि स्वराणां यत्र दृश्यते ।
कण्ठदोपहतश्चैव ज्ञेयः स त्वव्यवस्थितः" ॥ १०१ ॥
'स्वरो यो....लक्ष्यान्त (?) दन्तान्तरविनिःसृतः ।
कण्ठदेशे प्रतिहतः स संदष्ट इति स्मृतः' ॥ १०२ ॥
'यो न [+]विशृणुते भावं स्वर उच्चारणे गतः ।
तथा रूक्षस्वरश्चैव स काकीत्यभिधीयते' ॥ १०३ ॥
*('नासागतस्वरो यस्तु विज्ञेयः स तु तुम्बकः' ।)

कण्ठगुणाः,—

'श्रावकोऽथ घनः स्निग्धो मधुरो ह्यवधानवान् ।
त्रिस्थान-शोभीत्येवं षट् कण्ठस्य च गुणाः स्मृताः' ॥१०४॥
'दूरतः श्रूयते यश्च स वै श्रावक उच्यते ।
श्रावकः सुस्वरो यस्मादच्छिद्रः स घनः स्मृतः' ॥१०५॥
'अरूक्ष-ध्वनि-संयुक्तः स्निग्धस्तज्ज्ञैः प्रकीर्तितः ।
[°]घनः प्रस्फोटजनकः स वै मधुर उच्यते' ॥ १०६ ॥

स०—(१०२) नाट्यदेवोक्त पाठ अच्छा है ।
(१०३) B. h. ३३।१६ *यह पंक्ति हमने यहां ना. शा. से उद्धृत की है ।

Ad : (१००) B. ३३।१६-१७
(१०१) B. ३३।१७; उपरोक्त श्लो० १०१ की द्वितीय पंक्ति नाट्यशास्त्र में इस प्रकार है:—
"हतस्वरदोपश्चैव ज्ञेयः स त्वनवस्थितः" ॥ १७ ॥
इस प्रकार अन्य श्लोकोंमें भी यत्र तत्र अन्तर है ।
(१०३) B. pb:—+'निःसरति स्थाने' 'स्वरमुच्चारण्यगतम् ।'
(१०५) B. ३३।११-१२
(१०६) B. ३३।१२ pb:—°'मानप्रहादनकर.'

F : (१०२) B. ३३।१८ "दन्त-प्रयोगाद्देशः स्याद्वै- परीडीदेश ।"

M : १ –ई २ अपना ३ नष्यविवर्जितः ४-भिनः ५ –षाः ६ –दशः ७ मधुरोयस्यो

'स्वरेऽधिके च हीने च ह्यविरक्तोऽवधानवान् ।
शिरःकण्ठेष्वभिहतं त्रिस्थान-मधुर-स्वरैः' ॥ १०७ ॥

'त्रिस्थान-शोभीत्येवं तु स हि तज्ज्ञैः प्रकीर्तितः' ॥१०८॥

अथ गातृगुणानाह भरतः,

"पूर्णस्वरं तत्र विलम्बि-वर्णम् ।
त्रिस्थान-शो[2]भि [x]त्रि[3]लयं त्रि[4]मार्गगम् ॥
रक्तं समं श्लक्ष्णमलङ्कृतं च ।
[S]सुखं प्रसन्नं मधुरं च गानम्" ॥ १०९ ॥

"गीते तु यत्नै[5]ः प्रथ[6]मं हि कार्यः ।
[7]शय्यां हि नाट्यस्य वदन्ति गीतम्", इति ॥ ११० ॥

"[8]गाता प्रत्य[9]ग्रवयाः स्निग्ध-मधुर-मांसलोपचित-कण्ठः ।
[10]लय-ताल-कला-मान-प्रयोग-मार्गेषु तत्त्वज्ञः" ॥ १११ ॥

"[11]रूप-गुण-कान्तियुक्ता माधुर्योपेत-सत्त्व-सम्पन्नाः ।
पेशल-मधुर-स्निग्धानुनाद-समरक्त-शुभकण्ठाः ॥ ११२ ॥

अवहित-शरीर-मनसः संनिवेशित-ताल-मधुर-स्वराः ।
[12]आतोद्यार्पित-करणा विज्ञेया गायिकाः श्यामाः" ॥ ११३ ॥

एवं गुण-विशिष्टो यः श्रद्धायुक्तश्च गायति ।
स ज्ञानी शुद्ध(स्व)र(व)र्णः सकपालः सपाणिकाः ॥ ११४ ॥

स्प०—(११०) आगे की पंक्ति 'गीते च यत्नं०' इत्यादि होनी चाहिए ।

Ad : (१०७, १०८) B. ३३।१३-१५
(१०९) B. ३२।४४०; pb :–[x]'त्रितयं'; [S]'सुखप्रयुक्तम्'
(११०) B. ३२।४४१;
(१११) B. ३३।२
(११२,११३) B. ३३।३,४

M : १ शीर्षेर-कण्ठे च हतं २ त्रि ३ त्रिसो ४ –गी– ५ –त्नः ६ –मे ७ शि–
८ गी– ९ प्रयाः १० ल– ११ भू– १२ अतोद्यामितिवि

आसारितानि सर्वाणि वर्धमानान्यथैव च ।
मद्रकाणि च सर्वाणि, तस्य शम्भुः प्रसीदति ॥ ११५ ॥

मुखरयति भुवनमखिलम्
प्रसन्नमनिशमापयद् गणो देशः ।
अयमुद्देशाध्यायो रचित-
-स्तेनेह नान्यदेवेन ॥ ११६ ॥

इति महासामन्ताधिपति-धर्मावलोक-श्रीमन्नान्यपति-विरचिते सरस्वती-
-हृदय-भूषणे भरतभाष्ये प्रथमाध्यायः ॥

द्वितीयः शिक्षाध्यायः ।

१ तत्रादिमं वर्णोत्पत्ति-प्रकरणम्

अध्यायाणां समुद्देशो गीतदोषगुणाश्च ये ।
गुणागुणौ च कण्ठस्य पूर्वाध्याये प्रदर्शितौ ॥ १ ॥

इदानीं वर्णनिष्पत्तिमुत्पत्ति-स्थानमेव च ।
ध्वनिं स्वरांश्च वक्ष्यामि शिक्षाविस्तरमेव च ॥ २ ॥

बालमन्मनलल्लानां (?) ये चान्ये तद्विधा नराः ।
वर्णनिष्पत्तये तेषां शिक्षाध्यायं प्रचक्ष्महे ॥ ३ ॥

स्थानात्प्रयत्नात् कालाच्च स्वराच्चानुप्रदानतः ।
उच्चारयन्ति ते वर्णांस्तथा शिक्षाऽभिधीयते ॥ ४ ॥

शिक्ष-धातुर्हि विद्यानामुपादानार्थ इष्यते ।
अकारप्रत्यये चापि शिक्षा-शब्दस्य सम्भवः ॥ ५ ॥

परश्रुत्ययनं वाक्ये लोके सर्वत्र दृश्यते ।
तानि चोच्चार्यमाणानि जनयन्त्यथ संविदम् ॥ ६ ॥

न विना वर्णनिष्पत्तिं पदं लोके प्रवर्तते ।
पदानि च विना वाक्यं कुत्रचिन्नोपलभ्यते ॥ ७ ॥

अतः प्रधानभूतत्वाद् वर्णानामेव सर्वशः ।
तेषां शिक्षाऽभ्याससमाना मुनीनां वचनादियम् ॥ ८ ॥

"आत्मा बुद्ध्या समेत्यार्थान्मनो युङ्क्ते विवक्षया ।
मनः कायाग्निमाहन्ति, स प्रेरयति मारुतम्" ॥ ९ ॥

"मारुतस्तूरसि चरन्मन्द्रं जनयति स्वरम् ।
(गायत्रमाश्रितं छन्दः) प्रातः सवनयुग्भवेत्" ॥१०॥

कण्ठे माध्यन्दिनयुतः स्तुतो यः शिरसि स्थितः ॥ ११ ॥

"सोदीर्णो मूर्ध्न्यभिहतो वक्त्रमापद्य मारुतः ।
वर्णाञ्जनयते तेषां विभागः पञ्चधा स्मृतः" ॥ १२ ॥

"त्रिषष्टिश्चतुःषष्टिर्वा वर्णाः शम्भुमते मताः ।
प्राकृते संस्कृते चापि स्वयं प्रोक्ताः स्वयम्भुवा" ॥ १३ ॥

"स्वरा विंशतिरेकश्च, स्पर्शानां पञ्चविंशतिः ।
यादयश्च स्मृता ह्यष्टौ, चत्वारश्च यमाः स्मृताः" ॥१४॥

"अनुस्वारो विसर्गश्च ᳲकᳲपौ चापि पराश्रितौ ।
दुःस्पृष्टश्चेति विज्ञेयो ऌकारः प्लुत एव च" ॥ १५ ॥

स्प०—(९) यह श्लोक और आगेके कितनेक श्लोक पा० शि० से उद्धृत हैं

Ad: (९) P S ६ (१०) P S ७
(१२) P S ९ (१३) P S ३ (१४) P S ४
(१५) P S ५

F (११) P S कण्ठे माध्यन्दिनयुग मध्यम त्रैष्टुभानुगम् ।
तार तार्तीयसवन शीर्षण्य जागतानुगम् ॥ ८ ॥

M: १ शि-स्यानमाना २ समर्थ्यार्थान् ३ सम्भवयो ४ प्यौ ५ -ष्टा- ६ -पा ७ ऋ-

"स्थानप्रयत्नतश्चैव तथा चानुप्रदानतः।
कालतः स्वरतश्चापि पञ्चभ्यो वर्णसम्भवः" ॥ १६ ॥

"अष्टौ स्थानानि वर्णानामुरः कण्ठः शिरस्तथा।
जिह्वामूलं च दन्ताश्च नासिकोष्ठौ च तालु च" ॥ १७ ॥

"उरः कण्ठः शिरश्चैव स्थानानि त्रीणि वाङ्मये।
सवनान्याहुरेतानि साम वाप्यर्थतोऽन्तरम्" ॥ १८ ॥

"उरः सप्तविचारं स्यात्तथा कण्ठस्तथा शिरः।
न चै सप्तोरसि व्यक्तास्तथा प्रावचनो विधिः" ॥ १९ ॥

"कण्ठ्यावहाविचुयशास्तालव्या ओष्ठजावुपू।
स्युर्मूर्धन्या ऋटुरषा दन्त्या ऌतुलसाः स्मृताः" ॥ २० ॥

"जिह्वामूले तु कुः प्रोक्तो, दन्त्योष्ठ्यो वः स्मृतो बुधैः।
एऐ तु कण्ठतालव्यौ, ओऔ कण्ठोष्ठजौ स्मृतौ" ॥२१॥

"अर्धमात्रा तु कण्ठ्यस्य विद्यादेवमिति स्मृतिः।
अयोगवाहा विज्ञेया आश्रय-स्थान-भागिनः" ॥ २२ ॥

अनुस्वारो नासिकजो, ह्विसर्गौ तु कण्ठजौ।
सर्वत्रैव मुखस्यास्तेष्ववर्णे श्रुवते परे ॥ २३ ॥

भूयो भागाद्वचो ········ ऌतृ-वर्णकयोरपि (?)।
पञ्चमा मुखे-नासिक्याः, पक्षेऽपि यवैल-स्वराः ॥ २४ ॥

Ad : (१६) P. s. pb. १० (१७) P. s. ११ (१८) N. ११७ (१९) N. ११८ (२०) P. s. १७ (२१) P. s. १८

F : (२२) (२३) } P. s. pb. { १९ "अर्धमात्रा तु कण्ठ्यस्य एकारैकारयोर्भवेत्।" इत्यादि। २२ "अनुस्वार-यमानाञ्च नासिका-स्थानमुच्यते। अयोगवाहा विज्ञेया आश्रयस्थान-भागिनः॥" }
२३ "नासिक्य."=नासिका+यः vide '[illegible]' पा. ६।१।६१

M : १ ल २ शिरस्तथा ३ च- ४ उदन्ता ५ ०र्ध ६ तु ७ [illegible] ८ [illegible]
९ अनुस्वारे १० नासिको ११ [illegible] १२ [illegible] १३-च-

" हकारं पञ्चमैर्युक्तम[2]न्तःस्थाभिश्च संयुतम् ।
उरस्यं[3] तं विजानीयात्; कण्ठ्यमाहुरसंयुतम्" ॥ २५ ॥

" अनन्त्यश्च[4] भवेत्पूर्वो ह्यन्त्यश्च[5] परतो यदि ।
तत्र मध्ये[6] यमस्तिष्ठेत्[7]सवर्णः पूर्व-वर्णयोः[8]" ॥ २६ ॥

" वर्गान्त्या[9]ञ्छषसैः सार्द्धमन्तःस्थैर्[10]वापि संयुतान् ।
दृष्ट्वा यमा निवर्तन्ते अदेशि[11]कमिवाध्वगाः" ॥ २७ ॥

'योऽ[12]स्ति सातिशयः कोऽपि प्रयत्नश्चात्मनो गुणः ।
तस्मादुच्चारणं नाम सिद्धं चात्रोपदिश्यते ॥ २८ ॥

अचोऽस्पृष्टास्तथान्तःस्था ईषत्स्पृष्टा भवन्ति हि ।
अर्धस्पृष्टास्तु शषसाः, स्पृष्टाः शेषाः प्रकीर्तिताः ॥ २९ ॥

कादयो मा[14]वसानास्ते हकारो विप्रकर्ष्यते ।
स्पर्श-नाम तत्स्थानी (?) च स्पृष्टे[15]पत्करणं विदुः ॥३०॥

स्वराणामूष्मणां चैव विवृतं[16] करणं स्मृतम् ।
वर्गाणां प्रथमाश्चैव द्वितीयाः शषसा[17] अपि ॥ ३१ ॥

एते चाघोष विज्ञेयाः संवृतं करणं गताः ।
अल्पप्राणा भवेयुस्ते यमानां प्रथमैः सह ॥ ३२ ॥

घोषवन्तस्तृतीयाश्च चतुर्थाश्चैव[18] पञ्चमाः ।
अमी संवृतकण्ठाः स्युरल्पप्राणा येण[19]ः स्मृताः ॥ ३३ ॥

---

d : (२५) P. S. १६ (२६) N. २।८ (२७) N २।९

: (२९) P. S. ३८ pb.–"अचोऽस्पृष्टा यणस्त्वीषन्नेमस्पृष्टा. शलः स्मृताः ।" इत्यादि ।
(३१) P. S. २१ द्वितीय पंक्ति "तेभ्योऽपि विवृतावेङौ॰" इत्यादि है ।

---

1 : १ पञ्चमान्तस्थो; २ ऊष्मा ०००, ३ उरसं ४ –न्त; ५–न्त्वर; ६ माध्ययनं; ७ तिष्टे; ८ –र्णीयाः ९ व-ध्यानसरसैः १० धा, ११ मा– १२ यस्तः १३ ना—; १४ –म १५, स्पृष्टेः पद करणं १६ –ति; १७ शषा अपि १८ दतुर्थौ च १९ यणा

संस्थाने द्वितीया (?) कारेण (?) चतुर्थकाः ।
प्रथमाः शषसा हश्च द्वितीय-स्थान-भागिनः ॥ ३४ ॥

वकारश्च यकारश्च शाकटायनसंविदि ।
ईषत्स्पृष्टतरः प्रोक्तो दुःस्पृष्टो ········ ॥ ३५ ॥

जिह्वा-मूलीय-नासानमुपध्मानीयमेव च ।
द्वितीयेन सवर्णस्य समानं वक्ति नारदः ॥ ३६ ॥

स्वरा वि(वृ)तकरणाः स्वरे तेभ्योऽधिको भवेत् ।
आभ्यां चैव त्वधिकता ततोऽप्याकार ईष्यते ॥ ३७ ॥

अकारः संवृतो ज्ञेयस्तथाऽनुस्वार एव च ।
"अलाबुवीणा-निर्घोषो दन्तमूल्यः स्वरानुगः" ॥ ३८ ॥

शैथिल्यं गाढबन्धं च मार्दवं स्फुटतां तथा ।
संयोगानां यथास्थानमूहतां शुद्ध····द्वयोः (?) ॥३९॥

पिण्डो वर्तिश्च कूटश्च संयोगाश्च परे तथा ।
··················· प्रस्तार-वर्ण-युक्तयः ॥ ४० ॥

सजातीयासजातीयैः संयुक्ता बहवो यदि ।
तदा चैकमनेकं वा प्रभिन्नोच्चारणं विदुः ॥ ४१ ॥

आधारोत्थितपवनो भवति यदा किमपि वक्तुकामस्य ।
तीव्र-प्रयत्न उच्चैः सर्वशरीराङ्ग-सन्धि-सञ्चारी ॥ ४२ ॥

टी०—(४२-४५) पाणिनिसूत्र 'उच्चैरुदात्त' और 'नीचैरनुदात्त.' (१-२-२९, ३०) दोनों के भाष्य में "आयाम.=गात्राणां निग्रहः । दारुण्य स्वरस्य दारुणता=रूक्षता; अणुता खस्य=कण्ठस्य संवृतता । उच्चै.कराणि शब्दस्य ।" इत्यादि स्पष्टीकरण द्वारा उच्चनीच स्वरोच्चार में कारणीभूत

Ad : (३८) P ९ २१

M : १ -स्पा २ मु— ३ वि— ४ भार्ग घुर्घगों, ५ दन्तुमूल ६ शैथिल्यं; ७ बन्धं ८ ग्निम पदनो ९ सञ्चरति

गात्राणां निग्रहः स्यात्संवृतता च कण्ठविवरस्य ।
वायोः स्वरस्य च तथा गतागते रूक्षता च वर्णस्य ॥४३॥

मुनयस्तमेवमेनं स्वरमाहुरुदात्तनामानम् ।
यदि च भवति प्रयत्नो मन्दः शैथिल्यं च सर्वगात्राणाम् ॥४४॥

कण्ठविवरस्य पृथुता वायोः स्वरस्य च हीनगामित्वात् ।
स्निग्धत्वमेवमेनं विदुरनुदात्तं तदा मुनयः ॥ ४५ ॥

उभयोर्गुणयोर्मध्यादुभयांशस्य स्पर्शनं भवति ।
इदमुपदिशन्ति वर्णं स्वरितं स्वरसंहिताचार्याः ॥ ४६ ॥

एतेषां तारतम्यवदुत्पत्तिं वर्णयन्ति सन्धीनाम् ।
उच्चमन्द्रस्य मध्यानां षड्प्रवृत्तिः स्वराणां च ॥ ४७ ॥

कंठस्थ ध्वनीन्द्रिय की अवस्था पतंजलि द्वारा वर्णित है। मूल में यह कल्पना तै० प्रा० में आई हुई है:—"आयामो दारुण्यमणुता खस्य०" इत्यादि (२२।९)।

स्प०—(४५) i. श्लोक ४२ से ४५ तक के प० १९७ ऊपर (अ० ११) पुनरुक्त हैं, जो नीचे के अनुसार हैं:—

"तथा च नारदः

"आधारोत्थित पवनो भवति यदा किमपि चंक्षुकामस्य ।
तीव्र-प्रयत्ने उच्चैः सर्वशरीरांग-संधि-सधारी ॥
गात्राणां निग्रहः स्यादणुता च कण्ठविवरस्य ।
वायोः स्वरस्य च तथा गतागते स्वभावश्च ॥
मुनयस्तमेवमेनं स्वरमाहुरुदान्त-नामानम् ।
यदि च भवति प्रयानो मन्दः स्वसनं च सकल-गात्राणाम् ॥
कण्ठविवरस्य पृथुता वायुस्वरोश्च हीनगामित्वात् ।
स्निग्धामवमेन विदुरनुदातु तदा सुनयः ॥"

(इसमें की अशुद्धि वैसी ही रक्खी है।)

ii. ये श्लोक नारदी शिक्षा में नहीं हैं।

M : १ दन्तता २ स्वसनं ३ उग्र-; ४ षड्ज-

लकारस्य हकारेण रेफेण च मनीषिभिः ।
अभिन्नस्थान-प्रयत्नात्सावर्ण्यमनुमन्यते ॥ ४८ ॥
उकारस्य वकारेण··········च कुत्रचित् ।
सकारस्य शकारेण सावर्ण्यं वक्ति नारदः ॥ ४९ ॥
खकारस्य छकारेण हकारो व्यवसर्गीयाः (?) ।
शषसानामिहान्योऽन्यं, जकारस्य यकारतः ॥ ५० ॥
वकारस्य बकारेणानुप्रासे तु प्रयोजनम् ।
ज्ञेयस्तथा लुकारश्च (?)···कारो नस्य संनिधौ ॥५१॥
देशो वृत्तिः प्रवृत्तिः स्वजाति-वर्णा यथायथम् ।
देवता ऋषयश्चैव वक्ष्यन्ते वाचिके पुनः ॥ ५२ ॥
अनुप्रदानमधुना क्रमप्राप्तं प्रचक्ष्महे ।
अनुप्रदानमाख्यातं न्यूनताऽधिकता ध्वनेः ॥ ५३ ॥
यमोऽनुनासिकाश्चैव विज्ञेया अनुनादिनः ।
चतुर्थाश्च हकारश्च विसर्गः स्वरनादिनः ॥ ५४ ॥
अन्तःस्थाश्च तृतीयाश्च ईषन्नादा इति स्मृताः ।
द्वितीय-स्थानिनो ज्ञेया ईषच्छ्वासा अमी पुनः ॥ ५५ ॥
प्रथमाः शषसाः श्वासान्न प्रयान्तीदृशी गतिः ॥ ५६ ॥

३ अथ तृतीयं मात्राकाल-प्रकरणम्

कालः परापरयोगपद्यायोगपद्यविरक्षि (?) प्रत्यय-लिङ्गः ।
एको नित्यो·····················कूटस्थः ॥ ५७ ॥

F :(५४) p. 8 ३९ (५५) p. 8 ३९ (५६) p 8 ४० "इषच्छ्वासधर्मा विशन्०"

M : १ नकारेण २ -रेण ३ भा ४ -भा ५ -र्णा ६ -षा- ७ प्रभाः ८ शेष
९ सान्वात्र १० प्रयन्ते दर्शा

निमेपाद्यस्तस्य क्रियावच्छेदाः कथ्यन्ते।
निमेपो हि स्वाभाविको नयननिमीलन-मात्रो मात्रेत्यूह्यते ॥५८॥

अर्धमात्रानुस्वार-विसर्जनीय-जिह्वामूलीयोपध्मानीयाः
सर्वे वा·························ठिना वर्णाः ॥ ५९ ॥

तद्विगुणो ह्रस्वो; ह्रस्वस्य (द्विगुणो) दीर्घः।
सन्ध्यक्षराणि च तान्येव; द्रुतस्तु त्रिमात्रिकः ॥ ६० ॥

दीर्घो ह्रस्वः सति स्वरिते अर्धमात्राद्वितयमनुदात्तम्।
वागानुरंजितो (?) वानुदात्तं तदग्रे वक्ष्यते ॥ ६१ ॥

"ऊकालोऽज्ह्रस्वदीर्घ-प्लुतः" इति ॥ ६२ ॥

ह्रस्वो लघुरित्याख्यायते ॥ ६३ ॥

स एव संयोगार्धमात्रानुस्वार-विसर्जनीय-जिह्वामूलीयोप-
-ध्मानीयेपू··· वृत्तार्धवृत्तावसाने च गुरुवल्लक्ष्यते ॥ ६४ ॥

सन्ध्यक्षराणि प्लुतान्येव गणयन्ते, त्रिमात्रत्वात्।
द्रुत-लघु-प्लुताश्च तालाध्याये दर्शयितव्याः ॥ ६५ ॥

गुरूणां लघुता क्वापि लघूनां गुरुता क्वचित्।
प्राकृते छन्दसि प्रोक्ता ह्यपभ्रंशेऽपि भापया ॥ ६६ ॥

"अदीर्घं दीर्घवत्कुर्याद् द्विस्वरं यत्प्रयुज्यते।
कम्पितत्वरितागीतं ह्रस्व-कर्षणमेव च" ॥ ६७ ॥

कालः सृजति भूतानि, कालः संहरते प्रजाः।
कालः सुप्तेपु जागर्ति, कालो हि दुरतिक्रमः ॥ ६८ ॥

टी०—(६२) एक-दो-तीन मात्रा का स्वर-काल इस सूत्र में पाणिनि द्वारा वर्णित है।

Ad : (६७) N ३।७, pb "कम्पोत्स्वरिताभिगीतो"

M : १-म- २ यक्षन्ति

४ अथ चतुर्थमार्चिक-स्वर-प्रकरणम्

स्वयमात्मानं रञ्जयति निपातनात्स्वर-निरुक्तिः ॥ ६९ ॥

स एक एव नाना-स्थान-भेदादुच्च-नीचादि-भेद-भिन्नः ॥ ७० ॥ उदात्त एवेत्येके । उदात्तानुदात्ताविल्येको भङ्ग-द्वय-मथाकरोत् ॥ ७१ ॥ स्वरित इति क्षीनपरे (?) ततः प्रचयं प्रचरीत (?) मन्त्रे................मन्ये (?)। निघात-स्वर-मितरे ॥ ७२ ॥

"उदात्तानुदात्तश्च स्वरित-प्रचयौ तथा ।
निघातश्चेति विज्ञेयः स्वरभेदस्तु पञ्चधा" ॥ ७३ ॥

क्रुष्टातिस्वाराभ्यां सह सप्त सामगाः परिकल्पयन्ति ॥ ७४ ॥

टी०ः—(६९) "स्वय रजक होने से स्वर नाम दिया जाता है" यह स्वर-शब्द की निरुक्ति सर्व प्रथम व्याकरणकारो ने भाषिक 'स्वर' के विषय में कही थी, जो अपने सगीत–शास्त्रकारों ने सगीत में प्रविष्ट की :—(१) 'तयास्वरति, तस्मात्स्वर ।' (गो. ब्रा.), (२) 'प्राणो वै स्वर. ।' (ता. म. ब्रा.), (३) 'स्वय राजन्त इति स्वरा ।' (प. म. भा.) इत्यादि ।

(७४)₁ वैदिक काल में प्रथमत 'उदात्त' नामक स्वर ज्ञात हुआ, तत्पश्चात् 'अनुदात्त' एव 'स्वरित' प्रकाश में आए । 'प्रचय' तथा 'निघात' तक यह स्वर-सख्या पाच हो गई । सामगायकों ने 'क्रुष्ट' तथा 'अति-स्वार्य' को भी सम्मीलित कर सप्त-स्वरो की सख्या पूर्ण की । यह स्वर विकास का इतिहास उपरोक्त श्लोक ६८–७३ तक नान्यभूपाल द्वारा वर्णित है ।

स्प०—(७४) इसके आगे के कई श्लोकों का अनुक्रम हमने सदर्भवशात् परिवर्तित किया है ।

Ad · (७३) म ७।१९

F · (६९) ग १।२५, म ६३

M १ तत्प्रथमत्

यह सप्त-स्वर-शोध अत्यधिक प्राचीन है; क्यों कि यह सप्त-स्वर एवं तीन सप्तकों का निर्देश ऋक्प्रातिशाख्य (खि० पू० ४०० के लगभग) आदि में स्पष्टतापूर्वक उपलब्ध है। ('सप्तस्वरा ये यमास्ते' । इत्यादि, ४१-४५, तै० प्रा० ३।१३)। यह सप्त-स्वर सामवेद के 'क्रुष्टादि' एवं उनमें से प्रत्येक स्वर एक दूसरे से उच्च कहा गया है :—

"क्रुष्ट-प्रथम-द्वितीय-तृतीय० ॥ १३ ॥ तेषां दीप्तिजोपलब्धिः" ॥ १४ ॥ (—तै० प्रा०)

'उदात्त' 'अनुदात्त' और 'स्वरित' ये आदिकाल में संस्कृत भाषा के शब्दों के स्वराघात (Accents) थे, तदुपरान्त वे ऋचा एवं ब्राह्मणों के पठन-स्वर बन गये। विद्वद्ने ने उनका परिचय Accute, Grave एवं Circumflex आदि से दिया है। (Whitney's S. Grammar, Para 81)।

इसके पश्चात् जब इन ऋचाओं को साम-गीतों के रूप में गाने लगे, तब गद्य-स्वराघातों की उच्च-नीचता सांगीतिक स्वरों की उच्च-नीचता में परिणत हो गई।

"*It is not unthinkable that—in principle—a connection should be found between the accentuation of the rc and the melody and the stotra.*"

(— *Vedic Chant*, by G. M. van der Hoogt; P. 42)

'स्वर' और 'उदात्ता'दि संज्ञाएँ मूल में व्याकरण की थीं, उनको संगीत में स्थान मिला; इसका आशय यह है कि गद्य-भाषिक स्वर, कालान्तर में पद्य तथा संगीत के स्वरों में विकसित हो गये।

ii. वैदिक एवं सामवैदिक स्वरों का विवेचन तै० प्रा० में भली भाँति किया गया है :—

"द्वितीय-प्रथम-क्रुष्टास्त्रय आह्वारकाः स्वराः ॥
मन्द्रादयो द्वितीयान्ताश्चत्वारस्तैत्तिरीयकाः ॥"

(तै० प्रा० २३।१५,१६)

"लक्षणवशादुत्क्षेपिण इत्यर्थः । एतेन तृतीयमवधिं कृत्वा चतुर्थाद्या अन्ववसर्ग इति लक्षणवशादवक्षेपिणः । तृतीयस्तु धृतप्रचय इति गम्यते ।........ तृतीयस्तु समः । उत्क्षेपावक्षेपयोः । अस्त्वेवं सामवेदे; तैत्तिरीय-शाखायां किमाह्वयाताम्? तत्राहः-"मन्द्रादयो........" । मन्द्र-चतुर्थ-तृतीय-द्वितीयाः स्युः । अनुदात्त-स्वरित-प्रचयोदात्ता इत्यर्थः । एवं सामवेदोक्तं क्रमं निरूप्यास्मदाचार्यक्रमं निरूपयति :— "द्वितीयान्मन्द्रस्तैत्तिरीयाणां तृतीय-चतुर्थावनन्तरं तच्च तुर्यमित्याचक्षते ॥ १७॥"

द्वितीयादुदात्तादनन्तरं मन्द्र अनुदात्तः, तदनन्तरें तृतीय-चतुर्थौ प्रचय-स्वरितौ; इत्यनेन क्रमेण चतुर्णां यमानां समाहारश्चतुर्यमिमित्याचक्षतेऽस्मत्पूर्वाचार्याः। उच्चतरादय उदात्तेऽन्तर्भवन्ति·······। अतश्चतुःस्वरमेव तैत्तिरीयशाखायाम्।" (टीका)

तदुपरान्त यही विषय **नारदी शिक्षा** में आया है। नारद ने ऋचा, कठ, तैत्तिरीय, शतपथ आदि के पठन में पृथक् पृथक् स्वरों का उपयोग बतलाया है।

आर्चिकादि स्वरों के विषय में **नारदी शिक्षा** का कथन नीचे के अनुसार है:–

"अथातः स्वरशास्त्राणां सर्वेषां वेद-निश्चयम्।
उच्चनीच-विशेषाद्धि स्वरान्यत्वं प्रवर्तते ॥ १ ॥
आर्चिकं गाथिकं चैव सामिकं च स्वरान्तरम् ॥ २ ॥
एकान्तरः स्वरो ह्यृक्षु गाथासु द्व्यन्तरः स्वरः।
सामसु त्र्यन्तरं विद्यादेतावत्स्वरतोऽन्तरम् ॥ ३ ॥
·········कठकालापवृत्तेषु तैत्तिरीयाह्वरकेषु च।
ऋग्वेदे सामवेदे च वक्तव्यः प्रथमः स्वरः ॥ ९ ॥
ऋग्वेदस्तु द्वितीयेन तृतीयेन च वर्तते।
उच्चमध्यम-संघातः स्वरो भवति पार्थिवः ॥ १० ॥
तृतीय-प्रथम-क्रुष्टान्कुर्वन्त्याह्वरकाः स्वरान् ॥ ११ ॥
प्रथमश्च द्वितीयश्च तृतीयोऽथ चतुर्थकः।
मन्द्रः क्रुष्टो ह्यतिस्वार एतान्कुर्वन्ति सामगाः ॥ १२ ॥
द्वितीय-प्रथमावेतौ ताण्डिभाल्लविनां स्वरौ।
तथा शातपथावेतौ स्वरौ वाजसनेयिनाम् ॥ १३ ॥
एते विशेषतः प्रोक्ताः स्वरा ये सार्ववैदिकाः।
इत्येतच्चरितं सर्वं स्वराणां सार्ववैदिकम् ॥ १४ ॥"

नारद के उपरोक्त कथन के अनुसार:—

A. **ऋग्वेद-पठन** के स्वर **तीन**=प्रथम, द्वितीय, तृतीय=म-ग-रे;

B. **आह्वारक** स्वर **तीन**=प-म-ग;

सामवैदिक स्वर सात=म-ग-रे-सा-नि-ध-प;

ताण्ड्यादि ब्राह्मणों के स्वर दो=म-ग; इस प्रकार होंगे।

इसके अतिरिक्त वैदिक स्वरों का अलग्य विवेचन याज्ञवल्क्य एवं माण्डूकी आदि अन्य शिक्षा-ग्रन्थों में दिया गया है। सामिक स्वरों का विषय साम-परिभाषा, सामसूत्र, क्षुद्र-सूत्र, बृहद्देवता आदि ग्रन्थों में आया है। पाश्चात्य वैदिक पण्डित मेकडोनेल, बर्नेल, व्हिटने, हॉग, सीमन्, फ्लीग़र,

फेल्वर आदि ने वैदिक एवं सामवैदिक स्वरों का सुस्पष्ट विवेचन किया है। भारतीय लेखकों में श्री शेषगिरी शास्त्री अइयर, पं० सामाश्रमी, पं० लक्ष्मण शास्त्री द्रविड आदि इस विषय के इने गिने प्रतिपादक हैं। 'भारतीय संगीत' के लेखक स्व० मुळे ने साम-स्वरों का विषय श्री० द्रविड शास्त्री की पुस्तक "The mode of singing Sāmagāna" से लिया है। फॉक्स स्ट्रॅन्ग्वेज ने Music of Hindostan ग्रन्थ के Sāman chant (ch. X.) प्रकरण में पाश्चात्य पण्डितों के मतों का उत्तम संग्रह किया है; यद्यपि उनके अधिकांश निर्णय कल्पित प्रतीत होते हैं।

(बनारस से प्रकाशित होनेवाले एक मासिक-पत्र 'वेद-वाणी' के एक लेख (ई० स० १९४९) में हमने साम-संगीत का विस्तृत विवेचन किया है।)

iii. प्राचीन ग्रीक्स् आर्यों के बान्धव एवं एक निश्चित कालतक सहचर थे। जिस कारण से ग्रीक संगीत में स्वरों के नाम भारतीय संगीत के स्वरों के उदात्तादि के समान लगभग होते हैं। ग्रीक संगीत की 'प्राचीन' पद्धति के अनुसार टोलेमी ने ये स्वर-नाम निम्नप्रकार निर्धारित किए हैं:-

	Hypate,	Parahypate,	Lichanus,	Mese
	Highest,	next to highest,	fourfinger,	(middle finger!)
अर्थ:-	उच्च	प्रत्युच्च	तर्जनीय	मध्यम
	Para-mese,	Trite,	Para-nete,	Nete
	next to mese,	Third,	next to lowest,	Lowest
	प्र-मध्यम	तृतीय	प्रणीच	नीच

(Vide- "the Harmonics of Aristoxenus" P. 63)

(Para=next to का भाषान्तर हमने 'प्रति' और 'प्र' शब्दसे किया है। अरिस्टोक्सेनस् का समय ई० पू० ३५० एवं टोलेमी का ई० स० १४० माना जाता है।)

उपरोक्त "उच्च" आदि ग्रीक स्वर-नाम एक विशेष दृष्टिकोण से निर्धारित किए गये हैं। हार्प-सदृश वीणा के अमुक तार से अथवा अमुक उंगली से झंकृत हो जाने से स्वरों के नाम रक्खे गये हैं। उदाहरणार्थ 'उच्च' नामक स्वर यद्यपि ध्वनि की दृष्टि से सब से नीचा है तथापि वीणा में उसका स्थान सर्वोपरि तार में निहित है, अतएव उसको उक्त नाम दिया गया है। 'तर्जनीय' 'मध्यम' एवं 'तृतीय' नाम, उन तारों को झंकृत करने वाली उंगलियों के आधार पर रखे गये हैं। वास्तव में 'प्रणीच' एवं 'नीच' सर्वोच्च स्वर हैं, किन्तु उनका स्थान

"अनुदात्तपरस्य सन्नतर इति ।" था (?) करणानाम् ॥७५॥

क्रुष्टादधिको विक्रुष्टः स्वर एव प्रतिज्ञायते ॥ ७६ ॥
तदेवमत्युदात्तश्च स्वरितास्वरितौ तथा ।
निर्घातश्चानुदात्तश्च, ततः सन्नतरो भवेत् ॥ ७७ ॥
तथा च :—

"उच्चादुच्चतरं नास्ति नीचान्नीचतरं न हि ।
(वैस्वर्ये स्वार-संज्ञायां किं स्थानं स्वार उच्यते ?)" ॥७८॥

वीणा के निम्न तारों में निहित है । अतः उनका इस प्रकार का नामकरण हुआ । इसका सारांश यह है कि इस प्रकार स्वरों की "उच्च-नीच" संज्ञा पूर्णरूपेण कल्पित थी । मध्ययुगीन पर्शियन और अरबी संगीत में भी इस प्रकार के स्वर-नाम प्रचलित थे ।

iv. [जर्मन् वैदिक पण्डितों का एक शिष्ट-मण्डल (Commission) Herr Felix Exner के प्रतिनिधित्व में (ई० स० १९०४) वैदिक पठन के निरीक्षण हेतु भारत आया था । उक्त मण्डल ने ऋचा, साम और स्तोत्रादिकों के पठन के ग्रामोफोन रेकार्डस् लिए, एवं उनका अभ्यास करके डॉ० फेल्बर ने "Die indische Music der Vedischen und der Klassischen zeit" नामक पुस्तक सन १९१२ में प्रकाशित की, जिसमें वैदिकादि स्वरों का विवेचन एवं स्वर-लेखन दिया है, जो निःसंदेह महत्त्वपूर्ण है ।]

(७६) व्याकरणकारों ने 'उदात्ततर' अर्थात् 'उदात्त' से भी उच्च स्वर की व्यवस्था की है, एवं उसके ही आधार पर यहां 'क्रुष्ट' से उच्च स्वर 'विक्रुष्ट' की कल्पना ग्रन्थकार ने कर डाली है । 'विक्रुष्ट' स्वर-नाम का समावेश शिक्षा-ग्रन्थों में नहीं है ।

(७८) इसके आगे का श्लोक ना० शि० में इस प्रकार है :—
"उच्चनीचस्य यन्मध्ये साधारणमिति श्रुतिः ।
तं स्वारं स्वार-संज्ञायां प्रतिजानन्ति शैक्षकाः" ॥ ७ ॥

स्प०—(७५) यह पाणिनीय-सूत्र होगा, जो इस प्रकार शुद्ध होना चाहिए:— "उदात्त-स्वरित-परस्य सन्नतरः ।" (अ० १।२।४०) । आगे श्लो० ८० की टीका देखिए ।

F : (७८) x ०१६ ;

M : १ पे २ स १ -४-

५ अथ पञ्चमं सामिक-स्वर-प्रकरणम्

तथा साम्नि स्वराणां च नीचोच्च-स्वरितोः पुनः ॥७९॥
अत्युदात्त उदात्तश्चानुदात्तोऽत्यनुदात्तकः ।
स्वरितश्चेति भेदाः स्युस्तथा सप्तस्वरा अमी ॥ ८० ॥

उपरोक्त श्लोक में नारद ने "स्वार" अर्थात् 'स्वरित' को 'साधारण श्रुति' अर्थात् बीच का स्वर कहा है। इसी आधार पर भरत ने अन्तर-काकली स्वरों को 'साधारण' की संज्ञा दी है। तत्पश्चात् रत्नाकर ने अन्य विकृतस्वरोंहेतु 'साधारण' संज्ञा का उपयोग किया। इस प्रकार 'साधारण' संज्ञा का मूल वैदिक स्वर संज्ञाओं के अनुरूप है।

उपरोक्त श्लोक में 'श्रुति' शब्द स्वर के अर्थ में उपयुक्त है। पाणिनि के 'एकश्रुति दूरात्सम्बुद्धौ' इस सूत्र में 'श्रुति' का प्रयोग इसी अर्थ में किया गया है। सांगीतिक 'श्रुतियों' का मूल भी सामवैदिक स्वरों में ही रहा है, ऐसा प्रतीत होता है।

(८०) उपरोक्त श्लोक में १ उदात्त, २ अत्युदात्त अर्थात् उदात्ततर, ३ अनुदात्त, ४ अत्यनुदात्तक अर्थात् अनुदात्ततर एवं ५ स्वरित वर्णित हैं। यह पंच-स्वर, सप्त-स्वर के निदर्शक हैं। पाणिनि ने उदात्ततर का निर्देश 'उच्चैस्तराम्' शब्द से एवं 'अनुदात्ततर' का 'सन्नतर' से किया है। पतंजलि ने सप्त-स्वर इस प्रकार बतलाए हैं:--

"त एते तर-निर्देशे सप्त-स्वरा भवन्ति।"

इन सप्त-स्वरों के अन्तिम दो स्वरों का स्वतंत्र अस्तित्व नहीं है, क्यों कि पतंजलि ने छठवें एवं सातवें स्वर का वर्णन इस प्रकार किया है:—

"स्वरिते य उदात्तः, स अन्येन विशिष्टः। एक-श्रुतिः सप्तमः।" (१।२।३३)

उपरोक्त श्लोक में नान्यभूपाल ने सप्त-स्वरों की गणना करते हुए "उदात्ततर" आदि स्वरों का आश्रय लिया है, अतएव स्पष्ट है कि वे पतंजलि से पूर्णतः सहमत हैं।

स्प०—(७९) इसके आगे "उच्चैर्निषादगान्धारौ" इत्यादि श्लोक पुनरुक्त हुए हैं।

M : १ साम्निस्व० २ –वाद् ३ सदोदात्ताल– ४ –चो

[1]अनेन प्रकारेण निषाद-गांधार-षड्ज-मध्यम-पञ्चमर्षभ-तानां यथायथं सप्तस्वराणां विभक्तो जायते ॥ ८१ ॥

अत्राह नारदः,

"उच्चैर्निषादगांधारौ नीचावृषभ-धैवतौ ।
स्वरित-प्रभवा ह्येते षड्ज-मध्यम-पञ्चमाः" ॥ ८२ ॥
स्वरौ निषादगान्धारावुदात्ताविति कीर्तितौ ।
अनुदात्तौ तु विज्ञेयौ स्वरावृषभ-धैवतौ ॥ ८३ ॥
त्रयः स्वरितसंज्ञाश्च षड्ज-मध्यम-पञ्चमाः ।
[2]अत्युदात्तो निषादः स्याद्, गान्धारश्चाप्युदात्तकः ॥८४॥
[3]प्रचयः पञ्चमो ज्ञेयः, स्वरितो मध्यमः स्वरः ।
निघातस्तु स्मृतः षड्जोऽनुदात्तो धैवतः स्वरः ॥८५॥

टी०:—(८१) स्वरों का यह क्रम 'उच्चैर्निषाद-गान्धारौ' इत्यादि के अनुसार है।

(८२) यह श्लोक अन्यान्य शिक्षाग्रंथों में भी आया है।

A. पाणिनीय शिक्षा के श्लोक की प्रथम पंक्तिः—
"उदात्ते निषादगान्धारावनुदात्त ऋषभ-धैवतौ ।"
(इसमें उन्नीस अक्षर होने से यह अशुद्ध है। उपरोक्त 'उच्चैर्निषाद-गान्धारौ०' इत्यादि पाठ ही शुद्ध रहेगा।)

B. त्रैस्वर्य में भी यह श्लोक आया है:—
"गान्धर्ववेदे ये प्रोक्ताः सप्त षड्जादयः स्वराः ।
त एव वेदे विज्ञेयास्त्रय उच्चादयः स्वराः ॥ ६ ॥
उच्चैर्निषाद-गान्धारौ०" इत्यादि ॥ ७ ॥

(८३-८६) i. 'अत्यनुदात्त' और 'अत्युदात्त' की कल्पना पूर्वोद्धृत श्लो० ७७ और श्लो० ८० में आई है, जो यहां षड्जादि स्वरों के उपलक्ष्य में कही गई है।

स्प०—(८३,८४) ये श्लोक श्रुत्यध्याय (अ० ३) में पुनरुक्त हैं (पृ० ९, श्लो० २२, २३)।

Ad : (८१) N ८।८; P. a. pb. १२

M . १ भातम २ अनुदात्ते ३ प्रचयः

ऋषभोऽत्यनुदात्तश्च तथा सन्नतरश्च सः ॥ ८६॥

ii. *प्रातिशाख्यों के टीकाकारों ने क्रुष्टादि सप्त-स्वरों को उदात्तादि आर्चिक स्वरों* में विभाजित किया है; किन्तु 'उच्चैर्निषाद-गान्धारौ' आदि व्यवस्था अस्पष्ट है। 'मन्द्र-चतुर्थ-तृतीय-द्वितीयाः स्युः। अनुदात्त-स्वरित-प्रचयोदात्ताः (२३।१६)।' यह तै० प्रा० *टीकाकार द्वारा वर्णित व्यवस्था 'उच्चैर्निषाद-गान्धारौ'* के अनुरूप है। उदाहरणार्थः—

(१)

मन्द्र,	चतुर्थ,	तृतीय,	द्वितीय
|	|	|	|
नि	स	रे	ग
|	|	|	|
अनु०	स्व०	प्र०	उ०

किन्तु ऋ० प्रा० की जो टीका 'त्रिभाषारत्न' ने स्पष्ट की है, उसमें थोडा अन्तर प्रतीत होता है:—'यो द्वितीयः स उदात्तः, यौ तृतीय-चतुर्थौ तौ स्वरितप्रचयौ।'

चतुर्थ	तृतीय	द्वितीय
|	|	|
सा	रे	ग
प्र०	स्व०	उ०

(२) तै० प्रा० के टीकाकार का कथन है:—"उदात्तादि उपर्युक्त क्रम साम-वेदोक्त है, जिससे तैत्तिरीय शाखा का क्रम भिन्न है।" (२३।१६,१७)

(३) उपरोक्त योजना में ऋ० प्रा० के भाष्यकार ने 'मन्द्र' (=निषाद) को अनुदात्त, एवं तै० प्रा० के टीकाकार ने 'तृतीय' (=ऋषभ) को स्वरित कहा है, *वह अन्य ग्रंथों के कथन के साथ मेल नहीं रखता।* नान्यदेव ने उपरोक्त श्लो० ८५, ८६ में उदात्तादिकों की योजना कही है, वह निम्नानुसार होगी :—

स	रे	ग	म	प	ध	नि
निघात	अत्यनुदात्त } सन्नतर }	उदात्त	स्वरित	प्रचय	अनु०	अत्युदात्त

प्रस्तुत विषय में प्राचीन ग्रंथकारों की मतभिन्नता देखने से प्रतीत होती है, कि इन ग्रंथकारों की ये सभी योजनाएँ वैदिक स्वरों के साथ संगीत के स्वरों का संबंध जोडने की दिशा में केवल प्रयोगरूप थीं।

[श्लो० ८५, ८६ इसी अध्याय में क्र० २३, २४ के थे, जो संदर्भानुसार यहां स्थानान्तरित किये गये हैं।]

(४) वैदिक स्वरों का कुछ विवेचन **नारदी शिक्षा** में आया है, वह अन्य शिक्षा-ग्रंथोक्त विवेचन से अधिक स्पष्ट एवं विस्तृत है, जिसका सारांश नीचे दे रहे हैं :—

A. "अत ऊर्ध्वं प्रवक्ष्याम्यार्चिकस्य स्वरत्रयम् ।
उदात्तश्चानुदात्तश्च तृतीयः स्वरितः स्वरः ॥ १।८।१ ॥
य एवोदात्त इत्युक्तः स एव स्वरितात्परः ।
प्रचयः प्रोच्यते तज्ज्ञैर्न चात्रान्यत्स्वरान्तरम् ॥ २ ॥
वर्ण-स्वारोऽतीत-स्वारः स्वरितो द्विविधः स्मृतः ।
मात्रिको वर्ण एवं तु दीर्घस्त्वस्वरितादनु ॥ ३ ॥
स तु सप्तविधो ज्ञेयः स्वारः प्रत्यय-दर्शनात् ।
पदेन तु स विज्ञेयो, भवेद्यो यत्र यादृशः ॥ ■ ॥
जात्यः क्षैप्रोऽभिनिहितस्तैरव्यञ्जन एव च ।
तिरोविरामः प्रश्लिष्टः पादवृत्तश्च सप्तमः ॥ १० ॥
उच्चादुच्चतरं नास्ति, नीचान्नीचतरं तथा ।
पैस्वर्ये स्वार-संज्ञायां किं स्थानं स्वार उच्यते ? ॥ ६ ॥
उच्चनीचस्य यन्मध्ये साधारणमिति श्रुतिः ।
तं स्वारं स्वार-संज्ञायां प्रतिजानन्ति शैक्षकाः ॥ ७ ॥
उदात्ते निषाद-गान्धारौ ".... ॥ ८ ॥ इ०

"स्वर उच्चः स्वरो नीचः, स्वरः स्वरित एव च ॥ २।५ ॥" इ०

सारांश, (१) उदात्त, स्वरित एवं अनुदात्त यह आर्चिक अर्थात् ऋग्वेद-पठन के तीन स्वर हैं; (२) उदात्त यह स्वरित से उच्च है; (३) प्रचय स्वतंत्र स्वर नहीं है; (४) स्वरित के दो प्रकार हैं—'वर्णस्वार' तथा 'अतीत-स्वार'; (४) पुनः स्वरित के सात भेद शब्दों के प्रत्यय के अनुसार 'जात्य,' 'क्षैप्र' इत्यादि होते हैं; (५) उच्च तथा नीच दो स्वरों के मध्य में जो साधारण स्वर होता है, उसको 'स्वार' कहते हैं; (६) संगीत के स्वरों में गान्धार-निषाद दो स्वर उदात्त हैं, इत्यादि ।

B. प्रत्ययादि उपाधि से होनेवाले स्वरित के सात प्रकारों के लक्षण **ना० शि०** के द्वितीय प्रपाठक के प्रथम अनुवाक् में वर्णित हैं :—

"स-य-कारं च स्वं वाऽप्यक्षरं स्वरितं भवेत् ।
न चोदात्तं पुरस्तस्य, जात्यः स्वारः स उच्यते ॥ १ ॥
इ-उ-वर्णौ यदोदात्तौ, आपद्येतां यवौ क्वचित् ।
अनुदात्ते प्रत्यये नित्यं विद्यात्क्षैप्रस्य लक्षणम् ॥ २ ॥

अवग्रहात्परं यत्र स्वरितं स्यादनन्तरम् ।

तिरोविरामं तं विद्याद्, उदात्तो यद्यवग्रहः ॥ ५ ॥" इत्यादि ।

पुनः कतिपय शब्दों में स्वरित तथा प्रचय स्वर नीच हो जाता है :—

"यदुदात्तमुदात्तं तद्यत्स्वरितं तत्पदे भवति नीचम् ।

यन्नीचं नीचमेव तद्यत्प्रचयस्थं तदपि नीचम् ॥ २।३।१ ॥"

स्वर के 'नीच'—त्व के उदाहरण इस प्रकार दिये हैं :—

"अयमग्निः, सुतो, मित्रमिदं वयमथाग्रहः ।

प्रियं, दूतं, घृतं, चित्तमभि-शब्दश्च नीचतः ॥ २ ॥" इत्यादि ।

द्वितीय प्रपाठक के सातवें अनुवाक् में शब्दों की उच्च-नीचादि स्वर-व्यवस्था के आठ प्रकार कहे हैं :—

"अन्तोदात्तमाद्युदात्तमुदात्तमनुदात्तं नीच-स्वरितम् ।

मध्योदात्तं स्वरितं द्विरुदात्तमित्येता अष्टौ पदसंज्ञाः ॥ ५ ॥"

C. शब्दों के उदात्तादि स्वरों के **कठोर** तथा **मृदु आघात** के नियम नारद ने निम्नानुसार बतलाए हैं :—

"स्वरितात्पराणि यानि तानि धार्याक्षराणि तु ।

सर्वाणि प्रचयस्थानि ह्युपोदात्तं **निहन्यते** ॥ ७ ॥

प्रचयो यत्र दृश्येत, तत्र हन्यात्स्वरं बुधः ।

स्वरितः केवलो यत्र, मृदु तत्र निपातयेत् ॥ ८ ॥"

D. स्वार तथा प्रचय के विषय में **याज्ञवल्क्य शिक्षा** के निम्नोद्धृत वचन अधिक स्पष्ट हैं :—

"उदात्तानिहतः स्वार्यः स्वारोदात्तौ न तत्परौ ।

स्वरितो यस्तथाभूतो ज्ञेयः स **प्रचयः** सदा ॥ २२७ ॥

उच्चानुदात्तयोर्योगे स्वरितः **स्वार** उच्यते ।

ऐक्यं तत्प्रचयः प्रोक्तः, सन्धिरेषां मिथोऽद्भुतः ॥ २२८ ॥"

E. उदात्तादि तथा सामिक स्वरों के विषय में **माण्डूकी शिक्षा** का स्पष्टीकरण निम्नानुसार है :—

"सप्तस्वरास्तु गीयन्ते सामभिः सामगैर्बुधैः ।

चत्वार एव छन्दोभ्यस्त्रयस्तत्र विवर्जिताः ॥ ७ ॥

प्रथमाचन्तिमौ चैव वर्तन्ते छन्दसि स्वराः ।

त्रयो मध्या निवर्तन्ते मण्डूकस्य मतं यथा ॥ १७ ॥

उदात्तश्चानुदात्तश्च स्वरितः प्रचयस्तथा ।

चतुर्विधः स्वरो दृष्टः स्वर-चिन्ता-विशारदैः ॥ १९ ॥"

तात्पर्य याज्ञवल्क्य के स्पष्टीकरण के अनुसार उदात्त एवं अनुदात्त के संयोगयुक्त स्वरित को ही स्वार की संज्ञा दी गयी है। तथा इन तीनों स्वरों के संयोग को प्रचय नाम दिया गया है। "य एवोदात्त इत्युक्तः०" इत्यादि श्लोक (१।८।२) में प्रचय यह अन्य स्वरान्तर नहीं होने का **नारद** ने इसी दृष्टि से कहा हुआ प्रतीत होता है।

F प्रातिशाख्यों में 'स्वरित' को उभय-गुणवान् स्वर कहा है:— 'उभयवान् स्वरित.' (वा० प्रा० १।११०); तथा 'समाहारस्स्वरित.' (तै० प्रा० १।४०); '[समान-यमेऽक्षरं] आक्षिप्त स्वरितम्' (च० अ० १।१६)। स्वरित की व्याख्या **पाणिनि** ने इसी के समान 'समाहारः स्वरितः। तस्यादित उदात्तमर्धह्रस्वम्' (१।२।३१,३२) की है। भाष्य में **पतञ्जलि** ने 'य इदानीमुभय-गुणः, स तृतीयामाख्या लभते :– स्वरित इति।' इस प्रकार स्पष्टीकरण किया है। स्वरित का अधिक स्पष्टीकरण ऋ० प्रा० ३।२,३ और तै० प्रा० १।४१–४७ श्लोकों में किया गया है।

G बर्नेल, मॅक्डोनेल् इत्यादि विद्वानों का कथन है, कि "ऋक्पठन में स्वरित स्वर उदात्त के ऊपर प्रारंभ होकर उदात्त के नीचे तक जाता था। तत्पश्चात् सामगायन में 'स्वरित' के इस उच्चार को उपलक्षित करके उसको उदात्त से भी उच्च माना गया," इ० (Fx p 265)। किन्तु आर्चिक तथा सामिक स्वरों का विवेचन शिक्षादि ग्रंथों में उपलब्ध है, उससे स्पष्ट होता है, कि स्वरित का स्थान उदात्त तथा अनुदात्त के मध्य में था।

इन्हीं विद्वानों के कथनानुसार 'प्रचय' स्वर ध्वनिहीन (Tone less) होने से उसका स्थान अनिश्चित था (Ibid, p 265)।

H बर्नेल ने उदात्तादि स्वरों की तुलना फ्लेमिश सन्यासी Hucbald (ई. स. ८४०–९३०) के Excellentes, superiores, finales तथा graves स्वरस्थानों से की है (–'Saman chants', by A. C Burnell, -Vide Tg c, p 409)।

फॉक्स स्ट्रॅन्ग्वेज ने उदात्तादि स्वरों का साम्य ग्रीक संगीत के स्वरों के साथ कर के बतलाया है (p 266), उसमें मध्यम=अनुदात्त, गान्धार= अनुदात्त, ऋषभ=स्वरित, षड्ज=उदात्त, निषाद=अनुदात्त एवं धैवत=अनिश्चित होने का कहा है, यह सामञ्जस्य नहीं रखता। स्ट्रॅन्ग्वेज की कल्पना इस प्रकार है :—

Lichanos,	parahypate,	hypate,	lichanos,
स्व.	उ०	अनु०	स्व०
प	म	ग	री
[वास्तविक=स्व०	स्व०	उ०	अनु०]

parahypate,	hypate,	proslambanomenos.
उ०	अनु०	अतिस्वार्य
स	नि	ध
[वास्तविक=स्व०	उ०	अनु०]

(५) प्रथम कहा गया है, कि संस्कृत (वैदिक) शब्दों के स्वराघात षड्जादि स्वरों में परिणत हो गये। इसका कारण यह था, कि वैदिक स्वर आघात-रूप (accents) नहीं थे, वे गद्यभाषा के उच्च-नीच स्वर ही थे। संस्कृत की भाषा-भगिनी **ग्रीक** एवं **लॅटीन** भाषा के शब्दाघात भी स्वर की नीचोचता के रूप में थे, जैसा हेल्महोल्टज् के भाषान्तरकार पं० **एलिस्** ने स्पष्ट किया है :—"We must remember that the Greek and Latin so-called accents consisted solely in alterations of pitch, and hence to a certain extent determined a melody." (H. p. 289, n.)

तात्पर्य वैदिक संस्कृत भाषा ही गीतमय थी, उसका 'छन्दः' नाम भी इसी गुण का द्योतक है।

प्रचलित भाषा में प्रयुक्त होनेवाले स्वरों की उच्चनीचता हेल्महोल्ट्ज़ ने औत्तर जर्मन् भाषा के वाक्यों के उदाहरण दे कर सिद्ध किया है :-

(१) नि॒ नी॒- नि॒ म नि॒ नि॒ म॒- म॒-
इह् बिन् स्पा स्सी रेन् गे- मान्- गेन्
(I have been walk-ing this morn-ing.)

(२) नि॒ नी- म म स स म- म-
बिस्ट् ड्ड् स्पा- स्सी- रेन् गे- मान्- गेन्!
(Have *you* been walk-ing this morn-ing?)

तात्पर्य, सामान्य वार्तालाप में स्वर मध्यम उच्चत्व का (middle pitch) रहता है, जो हा-कार-युक्त वाक्य के अन्त में नीचे चतुर्थ स्वर तक उतरता है, एवं प्रश्नार्थक वाक्य के अंत में ऊपर पाँचवें स्वर तक चढ़ता है। उपरान्त, महत्त्वपूर्ण शब्दों के ऊपर बल देने के हेतु उनको एक स्वर ऊपर चढ़ाया जाता है। अन्यान्य भाषाओं में यह क्रिया भिन्न प्रकार से होगी। *हेल्महोल्टज् का कथन है, कि इन्हीं भाषिक स्वरान्तरों का संगीत के (षड्जादि)* स्वरों में रूपान्तर करके श्लोकादि का पठन (recitation) करने की रीति प्रचार में आयी (p 238)।

(६) भरतमुनि ने नाट्योपयुक्त गद्य-पद्य-रूप पाठ्य के उदात्तादि चार स्वर (='वर्ण'), काकु, अलंकार इत्यादि तथा उनका विभिन्न रसों में प्रयोग निम्नानुसार कहा है :—

> 'उदात्तश्चानुदात्तश्च स्वरितः कम्पितस्तथा ।
> वर्णाश्चत्वार एव स्युः पाठ्ययोगे...॥ १७।१०४ ॥
> तत्र हास्यशृङ्गारयोः स्वरितोदात्तैः इ० ॥ १०५ ॥'

प्रस्तुत विषय का विवरण नान्यदेव ने अ० ५ में किया है। इस विषय के स्पष्टीकरण में **अभिनवगुप्त** का कथन है, कि "पाठ्य स्वरों में केवल उच्च-नीचत्वादि गुण रहे हैं, किन्तु वे संगीत में प्रयोज्य स्वरों से भिन्न हैं, क्यों कि रक्तिप्रधान अनुरणन का उनमें अभाव है। सांगीतिक स्वरों से भिन्न पाठ्य-प्रयोज्य उदात्तादि स्वरों की 'वर्ण' संज्ञा भरतमुनि ने इसी कारण से की है। उदात्तादि पाठ्य-स्वरों में केवल उच्चादि-स्थान-स्पर्श का गुण निहित है, किन्तु रक्तिगुण नहीं है, जिस कारण से उदात्तादिक स्वर गान-विलक्षण हैं" इत्यादि। अभिनवगुप्त के वचन निम्नानुसार हैं :—

"तत्र स्थान-शब्देनैषां स्वरूप-निष्पत्तेराश्रयो दर्शितः। उदात्तानुदात्त-स्वरित-कम्पित-रूपतया स्वराणां यद्रक्ति-प्रधानमनुरणनमय तदयोगेनोच्च-नीच-मध्यम-स्थान-स्पर्शित-मात्रं पाठ्योपयोगीति दर्शितम्। यदि हि स्वरगता रक्तिः पाठ्ये प्राधान्येनावलम्ब्येत, तर्हि गान-क्रियाऽसौ स्यात्, न पाठः" इ० (१७।१०२)।

"जग्राह पाठ्यमृग्वेदात्सामभ्यो गीतमेव च ॥ १।१७ ॥"

"तत् (पाठ्यम्) ऋग्वेदाद् गृहीतम्। तस्य त्रैस्वर्य-प्रधानस्य स्तोत्र-द्वारेण यागोपकारित्वात् पाठ्यमपि च त्रैस्वर्योपेतम्। .. तदनन्तर "सामभ्यो गीतं जग्राह" इत्युक्तम्। उपरञ्जकत्वेन हि पश्चात्तस्याभिधानं न्याय्यमिति केचित्" इ०।

"पाठ्य में पूर्ण (=मान) स्वर नहीं होने से यह भिन्नता प्रतीत होती है,

ऐसा न मानें; कारण कि सात से कम स्वरों से भी संगीत का अनुभव हो सकता है, यदि वे स्वर संगीत के याने षड्जादि हो । उदाहरणार्थः— तीन या चार स्वरो से भी संगीत की प्रतीति होती है; जैसा कि, छोटी बाँसुरी में तीन ही स्वर होते हैं; कालिन्दी नामक राग केवल चार स्वरो का बना हुआ है, किन्तु इतने अल्प स्वरों से भी संगीत का अनुभव आता है, किन्तु पाठ्य के स्वरों से ऐसा अनुभव कदापि नहीं आता है" ३० ।

"पूर्ण-स्वरत्वाभावाद् अङ्गाना भेद इति चेत्, न । अपूर्ण-स्वरत्वेऽपि गानत्व-प्रतिज्ञानात् षाडवौडुवितयोः; त्रि-चतुर-स्वरत्वेऽपि गान-प्रतीतिर्भवत्येव, यथा कृत्रिम-वंशिकाया त्रैस्वर्ये; भिन्नषड्ज-भाषाया च कालिन्द्यां चातुःस्वर्ये । तस्माद् गान-वैलक्षण्याय रक्ति-लक्षण-धर्मभनादत्योचादि-स्थान-स्पर्श एवात्र प्रधानमिति वक्तुं वर्णोपादानम् । अन्यथा स्वरसप्तकातिरिक्तस्योदात्तादेर्भावादनर्थकं तदुपादानम् ।" (१७।१०२)

अभिनवगुप्त ने कहा हुआ उपर्युक्त सिद्धान्त पाठ्य गद्य के विषय में सर्वथा ग्राह्य होगा । पाठ्य गद्य से आगे चलकर मंत्र-पठन की क्रिया में पाठ्य स्वरों का स्वरूप थोडा परिवर्तित होता है । इससे भी आगे अनुष्टुप् जैसे छन्दो के पठन में प्रयुक्त इन्हीं स्वरों का स्वरूप गेय स्वरों की ओर झुका हुआ प्रतीत होता है । तत्पश्चात् कई वृत्तो के पठन में संगीत के समान ताल एवं स्वरों का प्रयोग भी होता है । बहुधा, उदात्तादि पाठ्य स्वरों के इस स्थित्यन्तर को लक्षित कर के अभिनवगुप्त ने आगे षाड्ज्यादि जातियो के षड्जादि स्वरों का संबंध उदात्तादि स्वरो के साथ जोडा है । अभिनवगुप्त का विवरण निम्नानुसार है:—

"उच्चता, नीचता, मध्यमता, उच्च-नीचोभयदोलावलम्बनमिति चत्वारः स्वर-धर्माः ।......पाठ्य-योगे काव्ये स्वरस्य रक्ति-भागमपहाय वर्णा एव वक्तव्याः । रक्ति-भागाभिनिवेशे तु गान योगः; न पाठ्य-योगः ।....... हास्ये मध्यमायाः पञ्चम्या वा जातेः स्थायि-स्वरं गृहीत्वा तत्रैवोच्च-मध्यम-स्थान-स्पर्शेन पठेत् । एवं शृङ्गारवीरादिषु त्रिषु षाड्ज्या आर्षभ्या वा खांशं गृहीत्वा तत्रैवोदात्त-कम्पितैः पाठः । करुणे निषादवत्या गान्धार्या वा स्थायिनमालम्ब्यानुदात्तेन पाठः । बीभत्से धैवत्या. स्वांश-स्वराश्रयेण स्वरित-कृतः । भयानके तत्स्वरावलम्बनेनैव कम्पित-प्रधानेन पाठः" (१७।१०९) ।

उदात्तादि चार पाठ्य-स्वरों के रस भरतमुनि ने निम्नोद्धृत वचन में बताये हैं :—

"तत्र हास्य-शृङ्गारयोः स्वरितोदात्तैर्वीर-रौद्राद्भुतेषूदात्त-कम्पितैः, करुण-वात्सल्य-भयानकेष्वनुदात्त स्वरित-कम्पितैर्वर्णैः पाठ्यमुपपादयेदिति ।"

(१७।१०५)

अथ मन्द्र-द्वितीय-प्रथम-चतुर्थातिस्वार्य-तृतीय-सप्तम-पर्याय-क्रुष्ट-शब्दैर्यथाक्रमं निषाद-गान्धार-मध्यम-(-षड्ज)-धैवतर्षभ-पञ्चमा उच्यन्ते ॥ ८७ ॥

प्रतीत होता है, कि अभिनवगुप्त ने उपरोक्त भरत-वचन में निर्दिष्ट किये हुए उदात्तादि स्वरों का साम्य रसानुसार षाड्ज्यादि जातियों के षड्जादि अंश-स्वरों के साथ मान लिया है। किन्तु यह साम्य बनाने के लिए अभिनवगुप्त ने ऋषभ को उदात्त, धैवत को स्वरित तथा गान्धार-निषाद को अनुदात्त स्वर कहे हैं, जो सामंजस्य नहीं रखता। अभिनवगुप्त ने चतुर्थ दोलायमान स्वर को 'कम्पित' कहा है।

टी० :—(८७) i. उपर्युक्त श्लोक अत्यन्त महत्त्व का है, क्योंकि सामिक क्रुष्टादि स्वरों का अर्थ समझने के लिए इससे पर्याप्त आधार मिलता है। षड्जादि स्वरों के साथ क्रुष्टादि स्वरों का मेल जोड देने में प्राचीन ग्रंथों की मतभिन्नता एवं अस्पष्टता के कारण जो शंकाएँ पैदा होतीं थीं, उन सब का निराकरण नान्यदेव के प्रस्तुत एक ही वाक्य से पूर्णरूपेण होता है। नान्यदेव के कथनानुसार क्रुष्टादि स्वर नामों से षड्जादि स्वरों का बोध निम्न-लिखित के अनुसार होता है:—

मन्द्र,	द्वितीय,	प्रथम,	चतुर्थ,	अतिस्वार्य,	तृतीय,	७=क्रुष्ट
नि,	ग,	म,	सा,	ध,	रे,	प,

[नान्यदेव का प्रस्तुत वचन अ० ३ में पृ० ६८ पर आया है जिसको संदर्भवशात् यहाँ उद्धृत किया है।]

ii. सामिक स्वर-सप्तक अवरोही था, उसमें क्रुष्ट स्वर आदिम एवं सर्वोच्च था। पुष्पसूत्र सामगान का विवरण करनेवाला प्रमुख ग्रंथ है, उसमें सामिक सप्तक का निर्देश 'क्रुष्टादि' संज्ञा से ही किया गया है।

टी० :—(८८,८९) i. ये श्लोक ना० शि० के हैं; इनमें बताया हुआ स्वरक्रम समुचित है। किन्तु ना० शि० के *G.* तथा *Bn.* संस्करणों में श्लोक ८९ का पाठ:—

"चतुर्थः षड्ज इत्याहुः, पञ्चमो धैवतो भवेत्।
षष्ठो निषादो विज्ञेयः, सप्तमः पञ्चमः स्मृतः ॥ १।५।२ ॥"

M : १ -र्थो, २ -रे, ३ -मा, ४ मौ

तथा च नारदेनोक्तम्[१] :—

"यः सामगानां प्रथमः स वेणौ-मध्यमः स्वरः ।
यश्च द्वितीयो गान्धारस्तृतीयस्त्वृषभः स्मृतः ॥ ८८ ॥
चतुर्थः षड्ज इत्याहुर्निषादः[२] पञ्चमः स्मृतः ।
धैवतः षष्ठ इत्याहुः सप्तमः पञ्चमः[३] स्मृतः ॥ ८९ ॥

इस प्रकार दिया है। प्रस्तुत पाठ के अनुसार अंतिम तीन स्वरों का क्रम 'स-ध-नि' इस प्रकार विपर्यस्त हो जाता है।

ii. **नारदोक्त स्वर-सारणा** के श्लोकों में भी यही विपर्यस्त क्रम दिया गया है:—

" अङ्गुष्ठस्योत्तमे क्रुष्टोऽङ्गुष्ठे तु प्रथमः स्वरः ।
प्रदेशिन्यां तु गान्धार, ऋषभस्तदनन्तरम् ॥ १।७।३ ॥
अनामिकायां षड्जस्तु, कनिष्ठायां तु धैवतः ।
तस्याधस्तादयोन्यस्तु निषादं तत्र विन्यसेत् ॥ ४ ॥"

प्रस्तुत श्लोक **माण्डूकी शिक्षा** में भी उपलब्ध है। श्लो० ४ की द्वितीय पंक्ति **मां० शि०** में निम्नानुसार दी हुई है:—

"तस्याधस्तात्तु योऽन्यः स्यान्निषाद इति तं विदुः ॥ १६ ॥"

उपरोक्त **ना० शि०** के श्लोकों में गान्धार से पूर्व 'प्रथम' और 'क्रुष्ट' क्रमशः कहे गये हैं, जिससे वे दोनो स्वर क्रमशः मध्यम एवं पंचम निर्धारित किये जा सकते है।

iii. **ना० शि०** में प्रथम प्रकरण में सामिक स्वरों की नामावली इस प्रकार दी है, जो अत्यधिक भ्रामक है:—

"प्रथमश्च द्वितीयश्च तृतीयोऽथ चतुर्थकः ।
मन्द्रः क्रुष्टो ह्यतिस्वार एतान्कुर्वन्ति सामगाः ॥ १।१।१२ ॥"

तात्पर्य, नारद के उपरोक्त श्लोकों को स्वर-क्रम के निर्देशक नहीं मानना चाहिए। [पृ० ६८ ऊपर उपरोक्त श्लो० ८७ पुनरुक्त हुआ है, किन्तु वह खंडित है:— " चतुर्थः षड्ज इत्याख्याहुः········।··············सप्तमः पञ्चमः स्मृतः ॥"]

iv. **साम-विधान ब्राह्मण** में एक स्थान पर क्रुष्टादि स्वरों का वर्णन करनेवाला वचन उपलब्ध है, उसमें के कई शब्दों के प्रथमाक्षर से संगीत के स्वरों के नाम 'स-रे-ग' इत्यादि निकाले जाते हैं, जो निम्नलिखित के अनुसार हैं:—

M : १ मनेनोक्तम् २ –ना ३ स्वर इति

कुष्टस्य मूर्द्धनि स्थानं ललाटे प्रथमस्य तु ।
भ्रुवोर्मध्ये द्वितीयस्य तृतीयस्य च कर्णयोः ॥ ९० ॥
कण्ठस्थानं चतुर्थस्य, मन्द्रस्योरसि चोच्यते ।
अतिस्वारस्य नीचस्य हृदि स्थानं विधीयते" ॥ ९१ ॥

"तद्योऽसौ क्रुष्टतम इव साम्नः स्वरस्तं देवा उ (प) जीवन्ति । योऽनरैषां प्रथमस्तं (म) नुष्याः । यो द्वितीयस्तं (ग) न्धर्वाप्सरसः ।·········यः पञ्चमस्तम-सुर-रक्षांसि । योऽन्त्यस्तमोष (ध) य. ।" इसमें 'यः पञ्चमः०' इत्यादि निषाद का वर्णन है, किन्तु उसमें निषाद को बतानेवाला 'नि' अक्षर नहीं है । अंतिम 'अतिस्वार्य' के लिए 'ध' अक्षर प्रयुक्त हुआ है । इसी के अनुसार अन्य ग्रंथों के वचनों से स्वरनामाक्षर निकाले जा सकते हैं, किन्तु परिणाम ठीक नहीं आता है:—

"वदन्ति देवताः क्रुष्टं, (म)नुष्याः प्रथमं स्वरम् ।
द्वितीय (प) शवः सर्वे, (ग)न्धर्वाप्सरसः स्वरम् ॥
अण्डजाः पक्षिणः (स)र्पश्चतुर्थमुपभुञ्जते ।
मन्द्रः पिशाचा (र)क्षांसि······॥"—बृ० देव० ९।१०८ ॥

"क्रुष्टेन (दे)वा जीवन्ति, प्रथमेन तु (मा)नवाः ।
(प)शवस्तु द्वितीयेन (ग)न्धर्वाप्सरसस्ततम् ॥"—ना० शि० १।७।६ ॥

४. महाभारत में षड्जादि की नामावली में ध-नि का क्रम विपर्यस्त दिया है:—

"षड्जर्षभश्च गान्धारो मध्यमः पञ्चमस्तथा ।
अतः परं [illegible] विज्ञेयो निषादो धैवतस्तथा ॥ १४।५०।४२ ॥अ० प० ॥
षड्ज ऋषभ-गान्धारौ मध्यमो धैवतस्तथा ।
पञ्चमश्चापि विज्ञेयस्तथा चापि निषादवान् ॥" शा० प० ॥

उपर्युक्त द्वितीय श्लोक में पंचम और धैवत का भी क्रम विपर्यस्त है । तात्पर्य, म० भा० की प्रस्तुत नामावली क्रम-निदर्शक नहीं माननी चाहिए ।

टी०:—(९०,९१) i. ना० शि० के इन श्लोकों में क्रुष्टादि स्वरों का क्रम उचित बताया गया है । ना० शि० के "क्रुष्टेन देवा जीवन्ति, प्रथमेन [illegible]

M : 1 कण्ठयोः

मानवा । (१।७।६–८)" इत्यादि आगे के श्लोको मे भी क्रुष्टादि का क्रम यथायोग्य निर्दिष्ट किया गया है ।

श्लो० ९१ में "अतिस्वारस्य नीचस्य" इत्यादि से अतिस्वार को (सब से) नीच स्वर कहा है, इसी प्रकार **ना० शि०** के—"अतिस्वारेण नीचेन जगत्स्थावर जङ्गमम्" इत्यादि श्लोक में पुनरपि अतिस्वार को 'नीच' कहा है । तात्पर्य क्रुष्ट से प्रारभ होनेवाली स्वरावली में अतिस्वार नीच याने अतिम स्वर होता है । यदि क्रुष्टादि स्वरों में क्रुष्ट स्वर पचम है, तो अतिम स्वर 'अतिस्वार्य' यह धैवत होने बावत कोई शका न रहनी चाहिए। [**सा० वि० ब्रा०** में अतिस्वार्य-को 'अनुस्वार्य', 'षष्ठ' एव 'अन्त्य' की सज्ञाएँ दी हैं ।]

ना० शि० के टीकाकार शोभाकार ने 'क्रुष्ट सप्तम पञ्चम इत्युक्त' कह कर सातवाँ स्वर क्रुष्ट यह पचम ही है, इस प्रकार स्पष्टता की है (१।७।३) । उपर्युक्त प्रमाणो से सिद्ध होता है, कि 'अतिस्वार्य' धैवत की ही सज्ञा थी 'अतिस्वार' सज्ञा नारदोक्त है, अन्य सभी ग्रथो में 'अतिस्वार्य' सज्ञा प्रयुक्त की गयी है ।

11 क्रुष्ट एव अतिस्वार्य नाम विशिष्ट अर्थ के सूचक प्रतीत होते है । **बर्नेल** ने 'कृष्ट' पाठ स्वीकार किया है और उसकी निरुक्ति 'कर्षणयुक्त' अर्थात् (मध्यम से ऊपर) 'खींचा हुआ'—('that to which कर्षण has been applied) इस प्रकार बतलायी है ।

इसी प्रकार, 'मन्द्र' अर्थात् निषाद का विकर्षण करके याने उतार कर धैवत का निर्माण किया गया, इस विषय की सूचना **बृ० देव०** के निम्नलिखित श्लोको से मिलती है —

"मन्द्र कर्षण सयुक्तमतिस्वार तु त विदु ॥ १०८ ॥
विकर्षणेन तु मन्द्रस्य युक्तोऽतिस्वार्य उच्यते ॥ ११३ ॥"

नारद के निम्न-लिखित श्लोक में यही बात कही है, ऐसा अनुमान होता है —

"अपर्यत्वादसक्तत्वादव्ययत्वाच्च नित्यश ।
मन्द्रो हि न हि मूतस्तु परिस्वार इति स्मृत ॥ १।७।५ ॥"

नारद के इस श्लोक में 'अतिस्वार्य' के लिए 'परिस्वार' शब्द प्रयुक्त हुआ है । 'अव्ययत्वात्' शब्द क्लिष्ट है । **ना० शि०** के टीकाकार ने 'अतिस्वार' तथा 'परिस्वार' को निषाद माना है, अतएव प ध नि क्रम स्वीकृत किया है ।

'अतिस्वार्य' शब्द का विशिष्टार्थ—'गीत-विभाग का अंतिम स्वर' ('Extremity of the cadence') इस प्रकार कई पाश्चात्य विद्वानों ने किया है। ग्रीक संगीत में भी धैवत को 'अतिरिक्त' (Extra) स्वर मानते थे और उसी अर्थ में उसकी संज्ञा 'Proslambanomenos' की गयी थी (Fx. p. 260)। साम-गायन में क्रुष्ट स्वर का प्रयोग बहुत कम होता था। "उदात्तादि मूल वैदिक पाँच स्वरों में क्रुष्ट तथा अतिस्वार सम्मिलित कर साम-गायकों ने सात स्वरों की कल्पना की" ऐसा नान्यदेव ने इसी अध्याय के श्लो० ७३, ७४ में कहा है। नान्यदेव का उक्त कथन पाश्चात्य पंडितों के अनुमान के समान है।

iii. ना० शि० में प्रत्येक स्थान पर स्वरों के विषय में 'प्रथम' शब्द स्वर-नाम के रूप में प्रयुक्त किया गया है, क्रमाङ्क-निर्देश के लिए नहीं। तात्पर्य, क्रुष्टादि स्वर-निर्देश में 'प्रथम' यह विशिष्ट स्वर की संज्ञा है। उदाहरणार्थ:—

(१) "ऋग्वेदे सामवेदे च वक्तव्यः प्रथमः स्वरः ॥ १।१।९ ॥"
(२) "तृतीय-प्रथम-क्रुष्टान्कुर्वन्त्याह्वरकाः स्वरान् ॥ ११ ॥"
(३) "प्रथमश्च, द्वितीयश्च....... मन्द्रः क्रुष्टः ॥ १२ ॥"
(४) "द्वितीय-प्रथमावेतौ ताण्डि-माल्लविनां स्वरौ ॥ १३ ॥"
(५) "यः सामगानां प्रथमः स वेणोर्मध्यमः स्वरः ।
यो द्वितीयः स गान्धारस्तृतीयस्त्वृषभः स्मृतः ॥ १।५।१ ॥"
(६) "क्रुष्टस्य मूर्धनि स्थानं ललाटे प्रथमस्य तु ॥ १।७।१ ॥"
(७) "अङ्गुष्ठस्योत्तमे क्रुष्टोऽङ्गुष्ठे तु प्रथमः स्वरः ॥ ३ ॥"
(८) "क्रुष्टेन देवा जीवन्ति, प्रथमेन तु मानवाः ॥ ६ ॥"
(९) "दीप्तां तां तु विजानीयात्प्रथमेन मृदुः स्मृता ॥ १३ ॥"

इसी प्रकार 'द्वितीय' 'तृतीय' एवं 'चतुर्थ' शब्द भी विशिष्ट स्वर-संज्ञा के रूप में—श्लोक १।५।१,२ छोड़ कर—ना० शि० में सभी स्थान पर प्रयुक्त हुए हैं।

iv. बर्नेल ने क्रुष्ट को 'प्रथम' मानने की भूल की है। उसने लिखा है:— "That the क्रुष्ट is the first note, and that it is generally called प्रथम, there can be no doubt. सायण in his commentary on the आर्षेय ब्राह्मण mentions क्रुष्ट repeatedly (e. g. in I, 16 and 17) where the सामन् has the first note marked." (Tg C. p. 409) बर्नेल के इस विधान का खंडन करते हुए, स्ट्रॅन्वेज ने ठीक ही लिखा है, कि:—

" Moreover, No. V (= पुष्प-सूत्र) alludes to the seven Swaras as क्रुष्टादि, 'begining on क्रुष्ट'; So there is little doubt that the Krusta is above the Prathama, and that another statement of Burnell's that *Krusta* and *prathama* are the same note is not universally true. " (Fx p. 257)

v. पूना के पं० द्रविड शास्त्री राणायनी शाखा के सामगायक कहलाते हैं। आपने " The mode of singing Sama Gana " नामक पुस्तिका (pp. 27) लिखी है, उसमें क्रुष्टादि स्वरों का विवरण आपने नहीं किया है, किन्तु सामिक सप्तस्वरों का अर्थ p. 3 पर निम्नानुसार दिया है:—

' 1	2	3	4	5	6	7
ma	ga	re	sa	ni	dha	pa '

तदुपरान्त p. 7 पर सामिक स्वर–हस्त चित्रित किया है, उसमें अंगुष्ठ के अग्र पर ' ७ अतिक्रुष्ट, क्रुष्ट ' तथा अंगुष्ठ के द्वितीय पर्व पर–' म प्रथम (क्रुष्ट) –मध्यम ' इस प्रकार स्वर के दो दो भ्रामक नाम लिखे हुए हैं। पं० मुले ने इस विषय में पं० द्रविड की पुस्तक का अनुवाद किया होने से (पृ० ३३,३४,३९) उनका प्रतिपादन भी उपरिनिर्दिष्ट जैसा संदेहास्पद हो गया है।

vi. ऋ० प्रा०, तै० प्रा० एवं सामसूत्रादि प्राचीन ग्रंथों में स्वरों के लिए 'यम' संज्ञा प्रयुक्त हुई है। भाष्यकारों ने 'यम' का द्वितीय अर्थ स्वरों का मृदुत्व तथा तीक्ष्णत्व कहा है, जो श्रुतियों की 'मृदु' एवं 'दीप्ता' जाति-नामों के समान प्रतीत होता है। इस विषय में ऋ० प्रा० तथा भाष्यकार उवटाचार्य का कथन निम्नानुसार है:—

"मात्रा-संसर्गादवरे पृथक्श्रुती ॥ ४१ ॥"

भा०:—'पृथक् श्रूयेते, इत्यर्थः। एवं श्रुति–विशेषो भवति।'

"त्रीणि मन्द्रं मध्यममुत्तमं च।
स्थानान्याहुः सप्त यमानि वाचः ॥ ४२ ॥
अनन्तरश्चात्र यमो विशेषः ॥ ४३ ॥
सप्त-स्वरा ये यमास्ते ॥ ४४ ॥"

भा०: —' षड्जर्षभ-गान्धार-मध्यम-पञ्चम० इति गान्धर्ववेदे समाम्नाताः। तथा सामसु ' क्रुष्ट-प्रथम-द्वितीय-तृतीय० ' इति ते नाम वेदितव्या: ॥ '

" पृथग्वा ॥ ४५ ॥ "

भा०: —' अथवा स्वरेभ्यः पृथग्भूता अन्ये यमाः स्वरेषु वर्तन्ते। एतेषां मृदुत्वं तीक्ष्णत्वं चेति वेदितव्यम् ॥ ' (तै० प्रा० २३ । १२)

तै० प्रा० ने आज के सप्तक-सदृश वाचा के सात स्थान 'उपांशु', 'ध्वान' इत्यादि बताये हैं, तथा मन्द्रादि तीन स्थानों में सात 'यम' कहे हैं। तै० प्रा० के कथन के अनुसार ये सात 'यम' ही 'क्रुष्ट, प्रथम, द्वितीय' आदि (सामिक) स्वर हैं तथा उनका क्रम अवरोही है :—

"सप्त वाचः स्थानानि भवन्ति ॥ ४ ॥
उपांशु–ध्वान–निमदोपब्धिमन्मन्द्र–मध्यम–ताराणि ।
मन्द्रादिषु त्रिषु स्थानेषु सप्त सप्त यमाः ।
क्रुष्ट–प्रथम–द्वितीय–तृतीय–चतुर्थ–मन्द्रातिस्वार्याः ॥ १३ ॥
तेषां दीप्तिजोपलब्धिः ॥ १४ ॥"

भा० :—'दीप्तित उपलब्धिर्भवति । अतिस्वार्यादीप्तो मन्द्रः ......।' इ०

उपर्युक्त सू० १४ में बतलाया है कि सामिक क्रुष्टादि स्वर अंतिम अतिस्वार्य को ले कर एक से एक उत्तरोत्तर उच्चतर हो जाते हैं, अर्थात् क्रुष्टादि स्वरों का क्रम अवरोही है। सू० १४ से स्पष्ट हो जाता है कि नारद द्वारा कहा हुआ 'सा-ध-नि' क्रम वास्तव में 'सा-नि-ध' ही होना चाहिए।

vii. A. मूल स्वरचतुष्क अर्थात् Tetrachord (tetra= चार; chord= स्वर) को संगीत के इतिहास में तथा विकास में अत्यन्त महत्त्व है, ऐसा संगीत के इतिहासकार मानते हैं। उनके प्रतिपादन के अनुसार कोई भी संगीत में उसका स्वर-सप्तक निर्माण होने के लिए प्रथम उसका स्वर-चतुष्टय बनना अत्यावश्यक होता है। मूल स्वरचतुष्टय निर्माण होने के पश्चात् ऐसे दो स्वरचतुष्टयों को संयुक्त (conjunct) या वियुक्त (disjunct) रीती से जोड़ कर सप्तक या अष्टक पैदा किया जाता है।

उदाहरणार्थः—

वियुक्त चतुष्टय	स	रे	ग	[illegible]	+	प	ध	नि	सं
संयुक्त चतुष्टय	[illegible]	रे	ग	म					
				म		प	ध	नि॒	

संगीत के इतिहासकारों के मतानुसार ग्रीक संगीत का मूल स्वरचतुष्टय (अवरोही क्रम से)

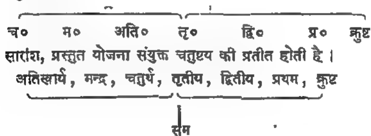
ग रे स नि॒

इस प्रकार था।

B. तै० प्रा० ने मूल स्वर-चतुष्टय चतुर्यम नाम से बतलाया है। तै० प्रा० के भाष्यकार के स्पष्टीकरण के अनुसार क्रुष्टादि स्वरों का विभाजन निम्नप्रकार होगाः—

द्वितीय, प्रथम, क्रुष्ट = आन्हारक अर्थात् उत्क्षेपी स्वर।
तृतीय = धृत-प्रचय अर्थात् सम स्वर।
चतुर्थ, मन्द्र, अतिस्वार्य = अवक्षेपी स्वर।

यहाँ पर तृतीय को सम स्वर कहा है, फलतः इस स्वर-समुदाय की रचना निम्नानुसार होगी—

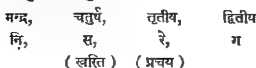


क्रुष्ट को पंचम मानने से प्रस्तुत स्वर-सप्तक इस प्रकार होगा:—



इस सप्तक में ऋषभ 'सम' स्वर कहा है, जो मध्यस्थ अर्थात् केन्द्र में स्थित स्वर है। एक दृष्टि से ऋषभ इस सप्तक का स्थायी (= आधार—) स्वर कहलायगा। भाष्यकार ने तृतीय स्वर को 'सम' स्वर कहा है एवं प्रस्तुत योजना सामवैदिक कही है:—
"तृतीयस्तु समः उत्क्षेपावक्षेपयोः। ......अस्त्येवं सामवेदे।" (२३।१५)

C भाष्यकार के संप्रदाय के अनुसार उसने चतुर्यम की वृत्ति 'द्विरान्तरा' कही है:—'द्वितीयान्मन्द्रः... तृतीय-चतुर्थौ अनन्तरम्....।' व्हिट्ने का स्पष्टीकरण 'Progression is by intervals of two tones' इस प्रकार है। भाष्यकार के कथनानुसार यह वृत्ति 'ग, नि़, रे, स' इस प्रकार होगी। उक्त स्वर-चतुष्टय निम्नानुसार होगाः—



इसमें ऋषभ को 'प्रचय' कहा है; उसके 'सम' होने के विषय में कुछ कहा नहीं है; किन्तु उपर्युक्त के अनुसार 'प्रचय' नाम सूचक है। नान्यदेव ने श्लो० ८५ में

पंचम को 'प्रचय' की संज्ञा दी है । तथापि तै० प्रा० भाष्यकार ने उपर्युक्त स्वर–चतुष्टय में षड्ज (='चतुर्थ') को स्वरित कहा है ।

D. नारदी शिक्षा के "यः सामगानां प्रथमः" इत्यादि वचन से 'प्रथम' अर्थात् मध्यम सामिक सप्तक के प्रमुख होने का सूचित होता है, यद्यपि इस विषय में इससे अधिक स्पष्टीकरण नारद ने नहीं किया है । किन्तु सामिक सप्तक का आधार–स्वर मध्यम ही था, ऐसा भरत–वचन के आधार से निर्णीत कर सकते हैं । भरत का कथन निम्नलिखित है:—

"सप्तस्वराणां प्रवरो ह्यविनाशी तु मध्यमः ।
गान्धर्व–कल्पेऽभिहितः सामगैश्च महर्षिभिः ॥ २८।७३ का० ॥"

उक्त मध्यम–प्रारंभिक सामिक विलोम स्वर–चतुष्क निम्नानुसार होगाः—

प्रथम,	द्वितीय,	तृतीय,	चतुर्थ
मं,	गं,	रें,	सां

इस प्रकार के दो स्वर–चतुष्कों को जोड़नसे संयुक्त सप्तक आरोही क्रमसे निम्नलिखित के अनुसार निर्माण होगा:—

स रे ग म
⋮
म प ध नि॒

संयुक्त चतुष्कों के आधार पर पंचम की प्राप्ति होती है, पश्चात् पंचम को आधारीभूत स्वर के वियुक्त चतुष्कों का सप्तक अर्थात् अष्टक निर्माण हो सकता है; जैसा किः—

स रि ग म प ध नि॒ सं

E. संगीत की प्राथमिक अवस्था में प्रथम स्वर–चतुष्क द्वारा द्वितीय स्वर–चतुष्क निर्माण करने की क्रिया में वेणुवीणादि साधन सहायभूत हुए । वीणा पर प्रथम तन्त्री के स्वर–चतुष्टय के अंतिम स्वर में द्वितीय तन्त्री लगाने से अग्रिम तीन स्वर प्राप्त होते हैं, एवं संयुक्त सप्तक की उत्पत्ति होती हैः—

(१)

प्रथम तन्त्री		द्वितीय तन्त्री	
आद्य स्वर–चतुष्टय	स	म	
	रे	प	अग्रिम तीन स्वर
	ग	ध	
	म	नि॒	

विभिन्न स्वरस्थानों का तथा स्वर-संवाद का ज्ञान अतीत में मानव को वीणा के कारण ही प्राप्त हुआ।

उपरि-निर्दिष्ट द्वितीय तन्त्री-जन्य स्वरचतुष्टय में द्वितीय स्वर पंचम है। पंचम में द्वितीय तन्त्री लगाने से पंचमादि स्वर-चतुष्क प्राप्त होता है, जिससे वियुक्त सप्तक की उत्पत्ति होती है:—

(२)

प्रथम तन्त्री	द्वितीय तन्त्री
स	प
रे	ध
ग	नि
म	सं

उपरोक्त (१) के मध्यम की तन्त्री को षड्ज की तन्त्री मान लेने पर षड्ज की तन्त्री पंचम की हो जाती है और (२) वाली योजना अपने आप निर्माण होती है। स्वर-चतुष्क-जन्य सप्तकों की उत्पत्ति का इतिहास ग्रीक संगीत में स्पष्टतया उपलब्ध है।

viii. शिक्षा-ग्रंथों के समय में सा-म-प स्वर 'स्वरित' के रूप में निश्चित हो गये थे। साम-सप्तक का प्रमुख-स्वर मध्यम था एवं साम-सप्तक की परंपरा भरत-संगीत में निरंतर चली आ रही थी, जैसा भरतमुनि के कथन से प्रमाणित होता है। सा-म-प स्वर स्वरित कहलाते थे, जिससे अनुमान कर सकते हैं, कि शिक्षा-ग्रंथों के समय में मध्यम और पंचम को षड्ज के संवादी के रूप में पहचानते थे।

ix. ऊपर के प्रकरण viii में बतलाया गया कि तैत्तिरीय संप्रदाय का स्वरचतुष्क विलोम क्रम से ग-रे-स-नि इस प्रकार था। इस चतुष्क के आदिम स्वर गान्धार को धैवत माना जाय, तो यह चतुष्क 'ध–प–म–ग' के चतुष्क में रूपान्तरित हो जाता है। ग्रीक संगीत का मूल स्वर–चतुष्क 'ध–प–म–ग' अर्थात् 'ग–म–प–ध'–रूप था, ऐसा पाश्चात्य विद्वानों का कथन है। प्राचीन भारतीय स्वर–चतुष्क के विकास के विषय में पाश्चात्य विद्वानों का विवरण संक्षिप्त में यहाँ देना समुचित होगा:—

"If the cumulative effect of this evidence, chiefly circumstantial, may be said to have established any conclusion as to the original scale of India, we have found there, as in Greece, a starting point in a tetrachord of the form:

E	D	C	B
[A	G	F	E]

It is interesting to ask what is the musical justification of this particular series of notes, and of their development.

The music is purely vocal; no instrument is employed; and vocal scales are concieved downwards. They are so concieved because the telling notes of the voice are in its upper register, and this presents itself therefore as the starting point for a vocal scale, in its search for consanance the ear hears in the first instance only quintal, not tertian, harmony, as was explained... ...Quintal harmony provides only Fifths, Fourths, and major tones. It has been shown, that in looking for harmony to a given note the Fifth occurs first in an upward series, but the Fourth in a downward. A vocal scale, concieved downwards, establishes therefore the Fourth before the Fifth, the tetrachord before the pentachord. The intermediate notes can only be filled up by major Tones, for no other interval is as yet present to the ear. As soon as the major Third is heard it corrects no doubt one of these major Tones into a minor tone.

In proceeding beyond this tetrachord there is nothing, apparently, in the nature of things to decide whether the F (= म) above should be added, as consonant to C (स =), or the A (= ध) below as consonant to D (=रे). The F was, as a fact, added first. This is seen to be a result of the circumstance that the E (= ग) was a graced note. It was if we may judge from the modern secular usage, seldom sung pure; an upper note was so to say, inherent in it; and this determined to an F (= म) rather than an F + (= तीव्र म) owing to the C (= सा) below. The A (= ध) was added also; but, as the interest of the chant lay at the other end of the tetrachord, this A (= ध) became more or less atrophied, and a G (प =) was never added below it. Meanwhile the F (= म) inherited the musical importance which had attached to the E (= ग), and the tetrachord F-C (= म-स) competed with the tetrachord E-B (=ग-नि) for supremacy.

६ अथ षष्ठं स्वर-सारणा-प्रकरणम्

अथेदानीं प्रसंगायाता स्वरसारणाऽभिधीयतेः—
पताकेनात्र हस्तेन कुर्यादङ्गुलिचालना ।
अङ्गुष्ठस्य मुखाग्रेण तर्जनी-मूल-सारणात् ॥ १२ ॥
उदात्तः स स्वरो नाम वेदविद्भिरुदाहृतः ।
कनिष्ठामूल-संस्पर्शादनुदात्त इति स्मृतः ॥ १३ ॥
स्वरितोऽनामिका-मूल-संस्पर्शाद्यः स्वरो भवेत् ।
मध्यमामूलतो विद्यात्प्रचयं स्पर्शनादपि ॥ १४ ॥

It was here that the Greeks parted company; and the reason for their doing so is instructive. They continued their tetrachord A–E (= ध ग) upwards through a B♭ (को० नि) and downwards through a D (= रे), but we do not make out that the tetrachord B♭ F (= नि–म) ever attained any sort of eminence in their song. The B♭ did not come into their scale as a 'graced' A, as the Hindu F was a graced E. For they aimed at singing their notes pure, as Aristoxenus tells us. They regarded their B♭ therefore merely as a consonant to the F below, not *also* as a kind of heightened E." (Fx. p. 279)

टी०:–i. उदात्तादि स्वरों की अंगुलि-सारणा इन श्लोकों में बतलायी है । तै० प्रा० की टीका 'त्रिभाष्यरत्न' में उक्त सारणा निम्न-लिखित है:—

(१) "उदात्तमाख्याति वृषोऽङ्गुलीनाम् ।
प्रदेशिनी–मूल–निविष्ट–मूर्धा ॥
उपान्त–मध्ये स्वरितं, धृतं च ।
कनिष्ठिकायामनुदात्तमेव ॥ १ ॥

शिक्षा-वचनमपि चैवम् वक्ष्यतिः—

(२) कनिष्ठिकाऽनामिका च मध्यमा च प्रदेशिनी ।
नीच-स्वार-धृतोदात्तान् अङ्गुष्ठाग्रेण निर्दिशेत् ॥"

उपर्युक्त श्लो० (१) तथा (२) में कही योजना निम्नानुसार होगी:—

अं० + त०	म०	अना०	कनि०
‿	|	|	|
उ०	धृ०	प्र०स्व०	अनु०

M: १ प्रचितं

निषादोऽप्यथ गान्धारः षड्ज-मध्यम-पञ्चमाः।
ऋषभो धैवतश्चेति क्रमात्स्यात्स्वर-सारणा॥ ९५॥
अङ्गुष्ठेन निषादः स्याद् गान्धारः स्पर्शनाद्[1] भवेत्।
तर्जन्याश्च स्वरः षड्जो, मध्यमायाश्च मध्यमः॥ ९६॥
पञ्चमोऽनामिका-स्पर्शात्कनिष्ठा-मध्य-पर्वगः।
स्पर्शनादृषभो ज्ञेयो, धैवतः स्यात्सुमूलतः॥ ९७॥

---

ii. पा० शि० में 'उदात्तमाख्याति वृषः०' इत्यादि श्लोक उपलब्ध है और तदनंतर निम्नलिखित श्लोक दिया हुआ हैः—

"उदात्तं (प्र-) देशिनीं विद्यात्, प्रचयं मध्यतोऽङ्गुलिम्।
निहितं कनिष्ठिक्या स्वरितोपकनिष्ठिकाम्॥ ४४॥"

iii. स्वरोच्चार करते समय प्रयोज्य 'हस्तप्रक्षेप-विधि' पा० शि० में निम्नानुसार कहा हैः—

"अनुदात्तो हृदि ज्ञेयो, मूर्ध्न्युदात्त उदाहृतः।
स्वरितः कर्ण-मूलीयः, सर्वास्ये प्रचयः स्मृतः॥ ४८॥"

सप्त-स्वरों में दिव्य शक्ति रही है, ऐसी उन लोगों की श्रद्धा थी, बाद में संगीत के स्वरों को तथा रागों को यह दिव्य सामर्थ्य और अद्भुतता दाय में प्राप्त हो गयीं।

टी०:—i. यहाँ सारणा से अभिप्राय एक प्रकार के स्वर-लेखन (*notation*) से है। ऋग्वेदादि-पठन हेतु अक्षरों को ऊपर नीचे रेखाङ्कित किया जाता था, एवं यहाँ तीन स्वरों से सारा कार्य होता था; उसमें उदात्त स्वर के लिए कोई चिन्ह प्रयुक्त नहीं होता था; वर्ण के नीचे आड़ी रेखा लिख कर अनुदात्त स्वर चिह्नित करते थे एवं स्वरित स्वर को चिह्नित करने के लिए अक्षर के ऊपर लंब-रेखा रखी जाती थी; जैसा किः—

अग्निमीळे पुरोहितम् यज्ञस्य देवम् ऋत्विजम्।

साम-गान की अनेक रीति अर्थात् अनेक शाखाएँ थीं। बर्नेल ने (१८७६ ई०) पाँच शाखाओं के नामः—(१) कौथुम, (२) जैमिनीय, (३) राणायनीय, (४) गोतमी तथा (५) नैगेय इस प्रकार कहे हैं जैमिनीय छः स्वरों को एवं राणायनीय सात स्वरों को प्रयुक्त करते थे।

M: १ स्पर्शात् २ अङ्गुष्ठेन ३ तर्जन्यां

सामिक स्वरलेखन का विस्तृत विवेचन करनेवाला मुख्य ग्रंथ फुल्लसूत्र है, अन्य महत्त्व का ग्रंथ पञ्चविध-सूत्र नामक है। इन ग्रंथों का संशोधन-पूर्ण संपादन जर्मन् पंडित सीमन् (R. Simon) ने १९०९ ई० में किया, जिससे सामिक स्वरलेखन-पद्धति के ऊपर प्रकाश डाला गया। फ्लुग्ट ने इस संबंध में लिखा है:—

"R. Simon's studies were the first to reveal the सामवेद as the most ancient source from which to draw our knowledge of Veda music" (Pref.)

सामिक स्वरलेखन के उदाहरण संक्षिप्त में निम्नलिखित हैं:—

(१) 'वे २ हीं २ पी २, ३, ४, ५, ।'

अक्षर-शीर्षस्थ अंक को 'प्रकृति-स्वर' एवं परवर्ती स्वरों को 'विकृति-स्वर' अर्थात् तानरूप स्वर कहला जाता है। उपर्युक्त उदाहरण में 'वे' के शीर्षस्थ 'द्वितीय' स्वर प्रकृति-स्वर है एवं 'वे' के पश्चात् का २ तथा 'पी' के परवर्ती २, ३, ४ और ५ विकृति-स्वर कहलाते हैं। 'प्रथम' स्वर के पूर्व अथवा बाद में जब 'द्वितीय' स्वर 'प्रथम' के 'कन'—(grace note) रूप में प्रयुक्त होता है, तभी 'द्वितीय' को ७ अंक से लिखा जाता है।

(२) कौथुम-पद्धति का स्वर-लेखन साम-परिभाषा ग्रंथ के अनुसार निम्नलिखित है:—

११ क्रु०,	१ प्र०,	२ द्वि०,	३ तृ०,	४ च०,	५ मन्द्र,	६ अतिस्वार्य
(प,	म,	ग,	रे,	स,	नि,	ध)

क्रुष्ट को चिन्हाङ्क ११ दिया है, किन्तु संहिता में अंक १ से ही काम चला लेते हैं। साम-संहिता में अर्थात् साम-गीतों में क्रुष्ट स्वर केवल दो ही स्थानों पर आया है:—

A. द्वितीय आत्र साम, बृहती छंदः
"मो ५ १ पु त्वा २ २ घा घतश्च ना ६ ए ॥" इ० १।२८४॥

B. गायत्री, आर्षे० १।३; आरण्य-गान ५।२।११:
"यस्येदम् आ रजो युतः ।" इ०

ii. प्रचलित ध्रुवपद, ख्याल आदि गान-प्रबंधों के विभाग 'स्थायी' 'अन्तरा' इत्यादि होते हैं, उन्हींके समान प्रत्येक सामगीत के विभाग 'प्रणव', 'उद्गीथ' इत्यादि होते थे एवं विशिष्ट याज्ञिक पुरोहित विशिष्ट गीत-विभाग को गाता था।

प्रथम विभाग 'प्रणव' अर्थात् ओंकार गा कर साम-गीत का आधार-स्वर (key-note) स्थिर करने में आता था। कोई गीत अं० १ से प्रारंभ होता था, तो अन्य किसी गीत का प्रारंभ अं० २ से अर्थात् 'द्वितीय' स्वर से होता था। अंक २ वाला गीत अंक १ वाले की अपेक्षा 'नीच' कहलाता था, इस बात का स्पष्टीकरण फु० सू० ५।१९१ में किया गया है, जो निम्नानुसार है:—

'वादौ मन्ते नीचैः पुना प्रत्नम् ।'

अर्थ:-"गीत के प्रथम शब्द की संज्ञा 'समन्त' होती है। 'पुना नः' आदि गीत-प्रस्ताव के 'समन्त' 'पुना' का स्वर २ है, जो १ स्वरवाले गीत से नीच कहलाता है।"

उदाहरण:—

(१) 'पुना नः सोम धारया ।'

(२) 'प्रत्नम् सधस्थम् आसदात् ।'

'प्रथम' और 'चतुर्थ' स्वर से प्रारंभित गीत—प्रस्ताव निम्नलिखित हैं:—

(१) 'त्वम् होता नो अध्वराई ।'

(२) 'त्वम् अग्ने गृहपताई ।'

यदि पूर्ववर्ती अक्षर का स्वर तत्पश्चात् के अक्षर तक चालू रहता है, तो ऐसे अक्षर पर 'र' चिन्ह लिखा जाता है।

iii. उपर्युक्त 'वादौ मन्ते०' इत्यादि सूत्र में बतलाया है, कि गीत-प्रारंभिक स्वर के अनुसार गीतों की उच्च-नीचता पैदा होती है; जिसका अभिप्राय यह हुआ कि गीत-प्रारंभिक स्वर परिवर्तित होने से गीतों का थाट भी परिवर्तित होता है; यद्यपि इस विषय का अधिक विवरण उपलब्ध नहीं है।

iv. सामिक स्वर—सारणा स्वरहस्त (musical hand) के रूप में नारद ने गात्र-वीणा के नाम से कही है:—

"दारवी गात्र-वीणा च द्वे वीणे गान-जातिषु ।
सामगी गात्र-वीणा तु, तस्याः संशृणु लक्षणम् ॥ १। ६। १ ॥
गात्र-वीणा तु सा प्रोक्ता यस्यां गायन्ति सामगाः ।
स्वर-व्यञ्जन-संयुक्ता ह्यङ्गुल्यङ्गुष्ठ-रञ्जिता ॥ २ ॥
............अङ्गुष्ठस्योत्तमे कुष्टः....इ० ॥ १ । ७ । ३, ४ ॥"

v. सामिक सप्तक अवरोही क्रमका था, कारण कण्ठ्य सप्तक अवरोही होता है, यह स्पष्टीकरण पाश्चात्य पंडितों के मतानुसार है। साम-गान की साथ-संगत वेणु-वादन से करने में आती थी, परिणामतः सामिक सप्तक का क्रम अवरोही हो गया, इस प्रकार पं० मुळे का स्पष्टीकरण है (मा० सं० पृ० ३३); किन्तु वैदिक युग में वीणा का प्रचुर प्रचार था और इस बात का निर्देश पं० मुळे ने भी किया है (पृ० २७, ४३)। ऐतरेय आरण्यक में 'अथ खल्वियं दैवी वीणा भवति।' इत्यादि (३।२।५) वीणा का वर्णन उपलब्ध है।

कल्लिनाथ ने एक वैदिक वचन उद्धृत किया है, जिसके आधार से प्रमाणित होता है, कि *यज्ञान्त—गान अर्थात् सामगान में साथ-संगत के लिए वीणा* का उपयोग किया जाता था। उक्त वचन निम्न-लिखित के अनुसार है:—

"........तावदश्वमेध—प्रकरणे 'ब्राह्मणौ वीणा-गायिनौ गायतो ब्राह्मणोऽन्यो गायेत' इति श्रुतेः।" (सं० र० १।१।३०)

धार्मिक गीत-गायन (Psalms and liturgical services) वीणा की साथसंगत से करने की प्रथा **सुमेरियन्** (ई० पू० ३०००) लोगों की भी थी, जो तत्पश्चात् के बाबिलोनियन्, असीरियन् और बाद में प्राचीन यहूदी लोगों ने स्वीकृत की। अतिप्राचीन सुमेरियन्स वेणु की साथ-संगत लेते थे (—Lg.)। सुमेरियन् और सिंधु-घाटी संस्कृति (ई० पू० २८००—२५००) में घनिष्ठ संबंध था। सिंधु-घाटी संस्कृति बादमें भारतीय संस्कृति में विलीन हो गयी (Ved. Age. p. 195-197)।

vi. **सामिक स्वरों** का मूल्य निश्चित करने के लिए आवश्यक प्रमाण शिक्षादि ग्रंथों में उपलब्ध नहीं है, फलतः इस विषय में विद्वानों में मतभिन्नता है। हूग्ट ने लिखा है :—

"Burnell and Sheshagiri Shastri tried to delimitate the intervals 1-2, 1-3 etc., by connecting the Vedic notation with the classic Indian tone-system; They arrived at different results, which is a matter of course because the sources are contradicting each other." (p. 37)

गत अर्धाधिक शती से साम-गायकों की परंपरा लुप्त-सी हुई है, किन्तु बर्नेल के समय सांप्रदायिक साम-गायक विद्यमान थे। इस विषय में बर्नेल का कथन उन्हीं के शब्दों में यहाँ देना उपयुक्त होगा :—

"The music of the Sāman chants has been often mentioned by me, that I shall try to give an idea of it, as it is now sung by the the Sāma Veda priests. Here, as in other respects,

there are numerous शाखा differences and I shall, therefore follow the practice of the कौथुमी शाखा, the only one of which I have been able to obtain sufficient information. The art is very nearly extinct, and this is a good reason for describing it, especially as the only European who studied it in India–Dr. Haug– is now no more.

......They (Sāman chants) are, as might he expected, on an imperfect scale of notes, but modes do not appear to be used, except one. The Sāman chants resemble in some respects the Gregorian or Plain Chant, and the two kinds of music approach one another in many points. The Sāman, however, being the older and less cultivated, one occasionally meets with passages which are forbidden by the rules of the plain chant, and are, to a foreigner's ear, by no means pleasing.

The notation, as has been already remarked varies exceedingly as the MSS., come from different parts of India; and it is not too much to say that it would be almost impossible to find two MSS. which precisely agree..................Every copyist, therefore, follows a different plan in details, for almost every one adds marks and signs of his own to assist him in chanting notes.

It would be useless to give the complicated notation as used in the S. Indian MSS, for these letters amount to several hundreds. The principle of the modern notation by numbers is far more simple. The seven notes are marked by the numerals—1, 2, 3, 4, 5, 6 and the last (really never used) by 7 or ⌒. Of these the first = F (= म) and the rest E, D, C, B, A, G.

It is necessary to point out (as there has been much confusion on this point) that the gānās are not *accented* in the ordinary sense of the word, or like the other *Vedas;* but that the marks which form such a prominent feature in the text are actually musical notes. I have ascertained this by means of a standard pitch-pipe.

The difficulty in understanding their true nature has arisen out of the attempts to classify the notes, and also to connect them phonetically, with the accents. It is not difficult to understand this by comparison with similar attempts of mediæval students of music." (Tg. C. 407–8).

तात्पर्य यह, कि बर्नेल ने (१) सांप्रदायिक साम-गायकों को सुना था, (२) सामगायन के स्वर संगीत के ही स्वर होते हैं इस विषय में Pitch-Pipe के साधन से तुलना कर के उसने निश्चय कर लिया था, (३) उसके अनुभव के अनुसार साम-गान में लगभग एक ही थाट का सप्तक प्रयुक्त होता है, (४) और वह थाट मेजर मोड यानी बिलावल का होता है।

दाक्षिणात्य परंपरा के अनुसार एम्. शेषगिरि शास्त्री ने साम गान का सप्तक आभोगी राग का बतलाया है (D. C. M. 1; I-pp. 3, 4); आभोगी राग का थाट काफी का है और उस में पंचम तथा निषाद वर्जित है।

तात्पर्य, इस विषय में बर्नेल और शेषगिरि शास्त्री दोनों के निर्णय भिन्न हैं, किन्तु अधिक विचार करने पर प्रस्तुत मतभिन्नता का निराकरण हो सकता है। एक क्रुष्ट स्वर को ही पंचम और मध्यम मानने से उक्त दो भिन्न थाट पैदा हो सकते हैं; जैसा कि:—

'प्रथम' द्वि० तृ० च० मन्द्र अतिस्वार्य क्रुष्ट
१ काफीः— म ग॒ रे स नि॒ ध॒ प॒
स्वरान्तर→ १ १/२ १ १ १/२ १
२ बिलावलः— प म ग रे स नि॒ ध॒

तात्पर्य, काफी थाट के मध्यम को पंचम मानने से वही स्वरसमूह बिलावल थाट का प्रतीत हुवा। अर्थात् 'प्रथम' स्वर को 'पढने' में भिन्नता हो गयी, जिससे थाटों में भिन्नता आ गयी।

vii. सामिक सप्तक का अर्थ लगाने के लिए नारदी शिक्षा का ही आधार लिया जाता है। कम से कम ग्राम-रागों तक का संगीत ना० शि० के समय प्रचलित था; कारण कि ना० शि० में 'राग' तथा 'ग्रामरागों' का निर्देश आया है; जो इस प्रकार है:—

A. 'तान-राग-स्वर-ग्राम-मूर्च्छनानां तु लक्षणम्॥ १। २। २॥'

B. 'ऋषभोत्थितः षड्जहतो धैवतसहितश्च' इत्यादि प्रमुख सात ग्रामरागों का वर्णन, श्लो० १। ४। ५—११॥

अपना संगीत साम-गान से प्रादुर्भूत हुआ है, ऐसा प्राचीन ग्रंथकारों का निवेदन है। इस संबंध में ग्रंथकारों के कुछ वचन निम्नानुसार हैं:—

(१) 'सामभ्यो गीतमेव च' ॥—भ० ना० १। १७॥

(२) भरत-संगीत के 'मद्रक' 'अपरान्तक' आदि सात गीत-प्रबंध 'सामवेद-समुद्भव' थे, ऐसा दत्तिल ने कहा है (द० २२२)।

(३) संगीत में गीतों के शब्द खंडित या पुनरुक्त कर के गाये जाते हैं, इस क्रिया के पक्ष में कल्लिनाथ ने मतंग का वचन उद्धृत किया है, जिसमें सामगान की प्रथा का उदाहरण दिया गया है:—

"सामवेदे गीत-प्रधान आवृत्तिषु अर्था नाऽऽक्रियन्ते। ...... सामवेद-प्रकृतिके संगीते गानवशात् कचित् पदानां पुनरुक्तिर्योक्तिश्च न दोषाय०"।

(सं० र० १।२५ क०)

(४) रत्नाकर ने प्राचीन राग-रूप 'कपाल' के गीत दिये हैं, उनमें साम-गायनान्तर्गत "हौ हौ, ऊं ऊं" इत्यादिक स्तोभाक्षर प्रयुक्त हुए हैं। इन गीतों को 'ब्रह्म-प्रोक्त-पदावली' कहा है (१।८।१४)।

(५) 'सामवेदादिदं गीतं संजग्राह पितामहः।' (सं० र० १।१।२५) "सामवेदादिदम्' इति, तत्संग्रह-रूपत्वं च गीतस्यापि सप्तस्वरात्मकत्वात्। सामनि हि क्रुष्ट-प्रथम-द्वितीय० सप्तस्वराः। इह तु त एव यथायोगं षड्जादि-व्यपदेशभाज इति ब्रह्मणाऽपि वेदादुद्धृत्य संग्रहे सार्वणिकत्वप्रयोजनमिति भावः" (—क०)। स्वरों के विषय में 'सामवेदात् स्वरा जाताः' इस प्रकार मतंग का भी वचन है (श्लो० ९०)।

(६) भरतोक्त 'ध्रुवा' गीतों में वैदिक ऋचा आदिकों का भी समावेश होता था:—

"या ऋचा पाणिका गाथा सप्तरूपाङ्गमेव च
सप्तरूपं प्रमाणं हि सा ध्रुवेत्यभिसंज्ञिता ॥ ३२। २॥
ऋग्गाथा-पाणिका ज्ञेया बोद्धव्यास्तु प्रमाणतः ॥ ४१६ ॥"

(७) संगीत के 'जाति'-गान का संबंध रत्नाकर ने साम-गान के साथ बतलाया है:-"साम-समुद्भूता जातयो वेद-संमिताः।" (१।७।११)

(८) चौरासी 'तानों' के नाम रत्नाकर ने 'अग्निष्टोम अत्यग्निष्टोम वाजपेय' इत्यादि दिये हैं, इनमें से पैंतीस तानें मतंग ने भी दी हैं। इन तानों के नाम 'अग्निष्टोम' आदि यज्ञ-नाम हैं। एवं प्रत्येक तान का फल नामसदृश यज्ञवत् कहा है:—

"यद्यज्ञनामा यस्तानस्तस्य तत्फलमिष्यते ॥ १। ४। ९० ॥" उक्त तानों का प्रयोग सामगान में बतलाते हुए कल्लिनाथ ने निम्नोक्त उद्धरण दिया है:—

'उत्तर-मन्द्रानुगता गायेत्तिस्रो मुदा युक्तः।
गान्धारा रक्षोघ्नीत्यौद्गात्रे मूर्च्छना विहिताः॥
आग्निष्टोमिक-तानेन गीतं साम शृणोति यः।'
........................इत्यादि।

viii. A. भरत-मुनि ने संगीत (=गायन) का विषय नारद के ग्रंथ से नाट्यशास्त्र में लिया है। इस संबंध में भरत के अनेक वचन उपलब्ध हैं:—

१: 'गान्धर्वं चैव वाद्यं च स्वातिना नारदेन च।
विस्तार-गुण-सम्पन्नं उक्तं लक्षण-कर्मतः॥ ३४। ३॥' का०

२: 'नारदाद्याश्च गन्धर्वा गानयोगे नियोजिताः॥ १। ५१॥'

३: 'स्वाति-नारद-संयुक्तो वेद-वेदाङ्ग-कारणम्॥ ५२॥'

४: 'ध्रुवा-संज्ञानि तानि स्युर्नारद-प्रमुखैर्द्विजैः॥ ३२। १॥'

५: 'अधिष्ठितं मया स्वर्गे स्वातिना नारदेन च॥ ३८। २०॥'

६: 'यथोक्तं मुनिभिः पूर्वं स्वाति-नारद-पुष्करैः॥ ३४। २॥'
'गान्धर्वमेतत्कथितं मया च
पूर्वं यदुक्तं प्रपितामहेन॥ ३३। २२॥'

प्रस्तुत श्लोक की द्वितीय पंक्ति का० पाठ के अनुसार:—
'पूर्वं यदुक्तं त्विह नारदेन' इस प्रकार है।

नारद का कोई वचन भरत ने उद्धृत नहीं किया है।

ना० शा० के अ० २९ के अलंकार-प्रकरण में ना० शि० के—
'श्रुतयोऽन्या द्वितीयस्य मृदु-मध्यायताः स्मृताः।'

इत्यादि दो श्लोक आये हैं, वे अपूर्ण एवं अवसरानुकूल नहीं होने के कारण प्रक्षिप्त हैं।

B. भरत-शिष्य दत्तिल का ग्रंथ ना० शा० का संक्षेप ही है।

दत्तिल ने नारद को संगीतशास्त्र का कर्ता कहा है:—
'गान्धर्वं नारदादिभ्यः प्रवृत्तमादौ स्वयम्भुवा।
विधिवन्नारदेनाथ पृथिव्यामवतारितम्॥ २॥'

C. दत्तिल के कथनानुसार 'अग्निष्टोम' आदि तान-नाम नारदादि द्वारा कहे गये हैं, जो कि मुद्रित ना० शि० में वे उपलब्ध नहीं हैं:—
'अग्निष्टोमादि-नामानस्त उक्ता नारदादिभिः॥ ३१॥'

D. मतंग, नान्यदेव और रत्नाकर ने नारद के नाम पर अनेक श्लोक उद्धृत किये हैं, वे सब के सब ना० शि० में मिलते हैं, जिससे अनुमान लगा सकते हैं कि मतंग के समय नारद का संगीत ग्रंथ नारदी शिक्षा यही था।

तत्र यदा च पञ्चपद-सहित-वाक्यानां विविधाः स्वरा इति वैयाकरणानाम् ॥ ९८ ॥ तदेवं प्रस्तूय.... ..। ये चानुक्रमेण वर्णास्तत्समुदायो, यस्मिन्नर्थे तत्पदम् ॥ ९९ ॥ तैर्नामाख्यातोपसर्ग-निपाताख्यैः स्वर-संस्कार-समर्थैर्वृक्षमिव...... ....तार्थो (?) यात्रद्भिर्निराकाङ्क्षी क्रियते ॥ १०० ॥ स वाक्यार्थः । उच्यते :—नानेति वाक्यम् । तत्रेदं संज्ञाचतुष्टयं नोपपद्यत इति ॥ १०१ ॥ दुःस्वरं आचार्या मन्यन्ते । वाक्यं यन्निमित्तत्वात् ॥ १०२ ॥

---

[14] मध्यम स्वर के अविनाशित्व के सम्बन्ध में भरतमुनि ने साम-गान का आधार प्रस्तुत किया है। भरत के उक्त कथन से सिद्ध होता है, कि साम-गान का विकास हो कर अपना संगीत निर्माण हुआ। ना० शि० में ग्रामरागों का निर्देश उपलब्ध है, फलतः मानना पड़ेगा कि विकास की यह अवस्था नारद-पूर्व ही पूर्ण हो गयी थी। इस कार्य में ग्रीक संगीत भी सहभागी हुआ होगा। दत्तिल तथा नारद द्वारा निर्दिष्ट 'स्वर्ग' दूरस्थ विदेश (=ग्रीस) हो सकता है।

साम सप्तक का स्वरूप :—उपरिनिर्दिष्ट ऐतिहासिक प्रमाणों के आधार पर निम्नलिखित के अनुसार होना चाहिए —

म प ध नि॒ स रे ग॒ म

इस सप्तक का आधार-स्वर (key note) मध्यम है, ऋषभ धैवत तीव्र एवं गान्धार निषाद कोमल हैं। इस विषय की अधिक चर्चा बाद में की जायेगी।

(९८–११८) इन श्लोकों में 'शब्द' की उत्पत्ति, नित्यानित्यता आदि विषयों का विवेचन किया गया है। इस विषय की विस्तृत चर्चा नैयायिकों ने तथा साहित्यशास्त्रकारों ने की हुई है।

[11] वर्ण, वाक्य और उनके सदर्भ से सांगीतिक 'ध्वनि' के विषय में **मतंग** ने कुछ विचार प्रदर्शित किये हैं, जो पठनीय हैं —

[11] यथानुभूत-देशाच्च ध्वने स्थानानुगादपि ।
ततो बिन्दुस्ततो नादस्ततो मात्रास्त्वनुक्रमात् ॥ ४ ॥
वर्णास्तु मात्रकोद्भूता, मात्रका द्विविधा मता ।
स्वर व्यञ्जन-रूपेण जगज्ज्योतिरिहोच्यते ॥ ५ ॥
पद-वाक्य स्वरूपेण वाक्यार्थग्रहनन यत् ।
वर्ण्यते जगत् सर्वं, तेन वर्णा प्रकीर्तिता ॥ ८ ॥

यो हि शब्द उच्चार्यमाणो नित्यः । अन्यथा अनित्यः ॥ १०३ ॥ उच्चारित-प्रध्वंसत्वात् । अपरोऽप्युच्चार्य.......... पूर्वं प्रध्वस्तं सद् असदो........प्रध्वंसाभावात् ॥ १०४ ॥ एवमेते वर्णाः परस्पर-संबन्धं लभमाना अर्थवाचकाः । एतेषां नियत-सख्या-क्रमे-वचन-समुदायः ॥ १०५ ॥

वर्णपूर्वकमेतद्धि पदं ज्ञेयं सदा बुधैः ।
पदैस्तु निर्मितं वाक्यं क्रिया-कारक-संयुतम् ॥ ९ ॥
ततो वाक्यान्महावाक्यं वेदाः साङ्गा ह्यनुक्रमात् ।
व्यक्तास्ते ध्वनितः सर्वे; ततो गान्धर्व-सम्भवः ॥ १० ॥
ध्वनिर्योनिः परा ज्ञेया, ध्वनिः सर्वस्य कारणम् ।
आक्रान्तं ध्वनिना सर्वं जगत् स्थावरजङ्गमम् ॥ ११ ॥
ध्वनिस्तु द्विविधः प्रोक्तो व्यक्ताव्यक्त-विभागतः ।
वर्णोपलम्भनाद् व्यक्तो देशीमुखमुपागतः ॥ १२ ॥"

iii. उपरोक्त श्लो० १० में 'गान्धर्व' और श्लो० १२ में 'देशी' शब्द आया है। 'गान्धर्व' का सामान्य अर्थ है–प्राचीन याने 'मार्ग' संगीत; और 'देशी' का अर्थ है–प्रचलित याने 'लक्ष्य' संगीत।

'गान्धर्व' का मूल अर्थ है—शास्त्रीय (Classical) संगीत। यह अर्थ नारद, भरत और दत्तिल के वचनों से सिद्ध होता है । नारद ने गान्धर्व की निरुक्ति इस प्रकार कही है:—

'गेति गेयं विदुः प्राज्ञा, धेति कारू-प्रवादनम् ।
वेति वाद्यस्य विज्ञेयं गान्धर्वस्य विरोचनाम् ॥ १ । ४ । १२ ॥'

आगे नारद ने 'गान्धर्व' शब्द संगीत के अर्थ में प्रयुक्त किया है:—
"...............गान्धर्वे श्रुति-सम्पदः ॥ ७ । १८ ॥"
"गान्धर्वे गाने श्रुतेरभावेऽपि तत्सदृशः स्वरः कार्यः । "—श्लो०

भरतमुनि ने दी हुई व्याख्या भी इसी प्रकार है:—
"यत्तु तन्त्रीकृतं प्रोक्तं नानातोद्य-समाश्रयम् ।
गान्धर्वमिति तज्ज्ञेयं स्वरताल-पदाश्रयम् ॥ २८ । ८ ॥
गान्धर्वं त्रिविधं विद्यात्स्वर-ताल-पदात्मकम् ॥ ११ ॥"

M : १ -प्रमत्त- ; २ -क्र

तन्नावात्पदमनित्यं, तद्वाक्यं वा यदेतत्संज्ञाचतुष्टयं स्वर-संस्कारादि-जातं तत........तरामेतदाश्रयत्वान्नेत्युच्यते ॥ १०६ ॥ आत्मनो नित्यत्वात् । सर्वमेव नित्यमिति । आत्मा हि नित्यो विभुरिति सर्वेषां मतम् ॥ १०७ ॥ स एकोऽपि बुद्ध्याऽनेकरूपेण कार्यमा °(—पन्नोऽ) नेक एव लक्ष्यते । घटपटाकाशवत् ॥ १०८ ॥

दत्तिल ने इसीका अनुवाद किया है:—

"पदस्थः स्वर-सङ्घातस्तालेन सुमितस्तथा ।
प्रयुक्तश्चावधानेन गान्धर्वमभिधीयते ॥ ३ ॥"

रत्नाकर ने संगीत के "गान्धर्वं गानमित्यस्य भेदद्वयमुदीरितम् ।" इस प्रकार दो भेद बता कर उनका व्याख्यान निम्नानुसार किया है :—

"अनादि-सम्प्रदायं यद्गन्धर्वैः संप्रयुज्यते ।
नियतं श्रेयसो हेतुस्तद्गान्धर्वं जगुर्बुधाः ॥ ४ । २ ॥
यत्तु वाग्गेयकारेण रचितं लक्षणान्वितम् ।
देशीरागादिषु प्रोक्तं तद्गानं जनरञ्जनम् ॥ ३ ॥"

रत्नाकर के इस वचन के अनुसार 'गान्धर्व' में देशीरागों का अन्तर्भाव नहीं होता है। देशीराग अर्थात् रागाङ्गादि चतुष्टय (सं० र० ४ । २ । २ ।)। इस विषय में कल्लिनाथ का स्पष्टीकरण सहायकारक होगा, जो निम्नानुसार है :—

"गान्धर्वं मार्गः, गानं तु देशीत्यवगन्तव्यम् । अनादि-संप्रदायमित्यनेन गान्धर्वस्य वेदवदपौरुषेयत्वमिति सूचितं भवति । गानं तु वाग्गेयकारादि-प्रतप्रत्वात्पौरुषेयमेव । ....जात्यायन्तरभाषान्तं यदुक्तं तद्गान्धर्वमित्यर्थः ॥" (—क०)

तात्पर्य रागाङ्ग, भाषाङ्ग, क्रियाङ्ग और उपाङ्ग रागों को देशीराग एवं गान संज्ञा दी गयी है । किन्तु रत्नाकर के समय में कतिपय ग्रामराग एवं भाषाराग प्रचलित थे, जिन्हें देशीराग ही कहा जाता था, जैसा रत्नाकर ने स्पष्ट किया है :—

"प्रसिद्धा ग्रामरागाद्याः केचिद्देशीत्यपीरिताः ।" ॥ ४ । २ । ३ ॥

"प्रसिद्धा ग्रामरागाद्या अपि पञ्चम-रेवगुप्त-नट्टनारायणादयः तेऽपि देशी-शब्देनोच्यन्ते ।" (—क०)

सारांश, रत्नाकर के समय के पूर्व जो संगीत था, उसको उसने गान्धर्व संगीत की संज्ञा दी है । मतंग ने भी भाषारागों का अंतर्भाव गान्धर्व संगीत में किया

"इमं बुद्धि-विषयमात्मानमिदं मनोऽयमात्मानमनुक्रमेत्." इति श्रुतेः ॥ १०९ ॥ स आत्मा तस्य या प्रकृति-प्रत्ययागम-विकाराख्या ह्यभिधान-रूपिणी बुद्धिः ॥ ११० ॥ तया बुध्द्या घट-पटाद्यभिधेयरूपादर्थान्निश्चित्य चान्यस्मै वक्तुमनिश्चितं (?) नियुङ्क्ते ॥ १११ ॥ तत्तथैवाभिधेय-गर्भ-वायुमुत्पादयितुं कायाग्निमाहन्ति ॥ ११२ ॥ ततो वायुरुत्थित उरः-प्रभृतीन् स्थान-विशेषान्प्राप्य नादिनश्चानुनादिनश्च स्वराञ्जनयति ॥ ११३ ॥ स्थान-प्रयत्न-करण-विभागेन च मूर्ध्नि स्थितो

हुआ प्रतीत होता है, कारण कि भाषाराग-प्रकरण के पश्चात् उसने देशी रागों का वर्णन किया है :—

"अतः परं प्रवक्ष्यामि देशी-राग-कदम्बकम् ।" (पृ० १४१)

तात्पर्य मतंग के समय ही भरतसंगीत नष्टप्राय हुआ था, फलतः मतंग रत्नाकरादि ने भरतसंगीत को पवित्र और मोक्षदायक माना होगा। रत्नाकर ने गान्धर्व संगीत को "गन्धर्वैः संप्रयुज्यते" एवं "नियतं श्रेयसो हेतुः" स्पष्ट ही कहा है।

देशी रागों की व्याख्या मतंग ने इस प्रकार दी है:—

"अबला-बाल-गोपालैः क्षितिपालैर्निजेच्छया ।
गीयते सानुरागेण स्वदेशे देशिरुच्यते ॥ १३ ॥"

इसका अभिप्राय यही समझना पडेगा कि मतंग के समय संगीत में अत्यधिक परिवर्तन हो चुका था।

भरतसंगीत के पश्चात् जिन रागों का प्रचार हुवा, उन्हें देशी राग एवं 'गान'—संगीत नाम दिया गया:—'देशीरागत्वाद्भरतादि-मुनि-प्रणीतत्वं नास्तीत्यर्थः।' (—सिं०)

कल्लिनाथ ने देशी रागों के विषय में "देशीत्वं नाम कामचार-प्रवर्तितत्वम्" यह लक्षण कहा है; इससे यह नहीं समझना चाहिए, कि देशी राग नियम-हीन होते हैं; कारण कि उसके पश्चात् ही कल्लिनाथ ने इस लक्षण का स्पष्टीकरण निम्नलिखित श्लोक से किया है:—

"तदत्र मार्ग-रागेषु नियमो यः पुरोदितः ।
स देशी-राग-भाषादावन्यथाऽपि क्वचिद्भवेत् ॥"

M : १ मवार्दानुनादिनश्च

वक्त्राद्यथायोगं वर्णान्जनयति ॥ ११४ ॥ ते अर्थवन्तः परस्मै कर्णशष्कुली-द्वारेण प्रविश्य विवक्षितार्थं प्रयोज्य नश्यन्ति ॥ ११५ ॥ तदाकृतयस्त्विन्द्रिय-रूपेणात्मबुद्ध्याऽवतिष्ठन्त एव ॥ ११६ ॥

अतः संज्ञाचतुष्टय-स्वर-संस्कारादि-जातमाकृति-नित्यत्वेन नित्यम्, इति ॥ ११७ ॥ नामाख्यातोपसर्ग-निपातानां पृथक्पृथक्स्वर-विशेषविधानादित्युक्तम् ॥ ११८ ॥

तात्पर्य कि देशी रागों के स्वरूप और नियम मार्ग रागों से कभी भिन्न हो सकते है। "देशी रागो के लिए श्रुति-स्वर-ग्राम-जात्यादि नियम नहीं होते हैं" इत्यादि आञ्जनेय-वचन कल्लिनाथ ने अन्यत्र उद्धृत किया है'—

"येषां श्रुति-स्वर-ग्राम-जात्यादि-नियमो न हि।
नाना-देश-गतिच्छाया देशी रागास्तु ते स्मृताः॥" (२।२।१६१)

आञ्जनेय के इस वचन के अनुसार जिनको 'धुन' कहते हैं ऐसे ठुमरी, कजरी आदि गीतों के पीलू, गारा, जंगला आदि 'छोटे' राग देशीराग कहलाने योग्य होंगे, जो कि उनके भी अपने अपने श्रुति-स्वरादि नियम होते ही हैं। बहुधा इसी तत्त्व को उपलक्षित कर के आगे कल्लिनाथ ने आञ्जनेय के उपरोक्त वचन का स्पष्टीकरण किया है:—

"एव चाद्य नृत्तयोरपि कामचार-प्रवर्तितयोर्देशीत्वमवगन्तव्यम्। नियमे तु सति तेषां गीतादीनां मार्गत्वमेव।"

इसी दृष्टि से देखा जाय तो हमारे प्रचलित शास्त्रीय संगीत को गान्धर्व एव मार्ग कहने में कोई आपत्ति नहीं है। तथापि 'मार्ग' संज्ञा मूल में सामगान तथा तज्जन्य 'जाति' संगीत के लिए ही प्रयुक्त होती थी।

१४ सांगीतिक 'ध्वनि' की व्याख्या पार्श्वदेव ने अच्छी दी है —
"मन्द्रादि-स्थान-भेदेन यो नादः स्फुरति स्फुटम्।
आरोहि क्रमतस्तज्ज्ञैः स एव ध्वनिरुच्यते॥ १।९॥"

रत्नाकर ने एवं पार्श्वदेव ने 'ध्वनि' के चार प्रकार खाहुल, नाराट, बोम्बक और मिश्रक इस प्रकार कह कर उनकी व्याख्या दी है (सं०र० ३।३९।६६; सं०स०सा० १।१०)।

इत्येवं कथितः सर्वः शिक्षायां विस्तरो मया ।
पाणिनेर्नारदस्यापि मुनेरापिशलेर्मतात् ॥ ११९ ॥

स्वस्त्रीभिर्भुजवलयावनद्ध-कण्ठात् ।
शिक्ष्यन्ते यदरिगणा गुणौघ-गाथाः ॥
अध्यायं प्रतत-धियां सुखाववोधम् ।
शिक्षाख्यं व्यसृजदिमं .... नैरेन्द्रः ॥ १२० ॥

इति महासामन्ताधिपति-धर्मावलोक-श्रीमन्नान्यपति-
-विरचिते सरस्वती-हृदय-भूषणे भरत-भाष्ये
शिक्षाऽध्यायो द्वितीयः समाप्तः ॥

---

v. 'ध्वनि' संज्ञा मतंग ने अन्यत्र 'राग' के अर्थ में प्रयुक्त की है:—
'नाना-विधेषु देशेषु जन्तूनां सुखदो भवेत् ॥ १ ॥
.....देशे देशे प्रवृत्तोऽसौ ध्वनिर्देशीति संज्ञितः ॥ २ ॥'

vi. 'गान्धर्व' शब्द नाट्यशास्त्र में गायन-वादन के अर्थ में प्रयुक्त हुआ है। 'वाद्यं तूर्यमिनं प्रोक्तम्' (३१।१) इत्यादि श्लोक में 'तूर्य' शब्द संगीत के अर्थ में प्रयुक्त हुआ है। नाट्यशास्त्र में 'संगीत' संज्ञा गायन के लिए प्रयुक्त हुई है:–

(१) 'संगीतयामपरिक्लेशो नित्यं प्रमदाजनस्य गुण एव ॥ २६।९ ॥'
(२) 'संगीतस्य प्रकर्तव्यं लयस्य च निवर्तनम् ॥ ३४।१६६ ॥'
(३) 'सुसंगीत-प्रयोगज्ञो मृदङ्गी तु भवेद् गुणैः ॥ ३४ । २५४ ॥'

भरतमुनि गायिकाओं का गाना अधिकतर पसंद करते थे। इससे अनुमान कर सकते हैं, कि उस समय में शास्त्रीय संगीत का अधिक विकास नहीं हुआ था।

M.: १-गुणात् २-धो ३-विरेन्द्रः

तृतीयः श्रुत्यध्यायः ।

१ तत्रादिमं स्वर-वर्ण-जाति-दैवतादि-प्रकरणम्

उदात्तत्वादि....दैवैं (?) लक्षणानि ततो ध्वनेः ।
सप्त-स्वरत्वमस्माभिः पूर्वाध्याये प्रदर्शितम् ॥ १ ॥
अथ स्वराणां वर्णं च जाति-छन्द-ऋषींस्तथा ।
देवता-ध्वनि....कथयाम्यनुपूर्वशः ॥ २ ॥
षड्जः पद्मनिभो ज्ञेय, ऋषभश्चापि पिञ्जरः ।
गान्धारः कनकाभस्तु, मध्यमः कुन्द-संनिभः ॥ ३ ॥
पञ्चमस्तु स्वरः कृष्णः, पीत-वर्णश्च धैवतः ।
निषादः कर्बुरो ज्ञेय, एवं-वर्णाः स्वरा इह ॥ ४ ॥
पञ्चमो मध्यमः षड्ज इत्येते ब्राह्मणाः स्मृताः ।
ऋषभो धैवतश्चापि विज्ञेयौ क्षत्रियावुभौ ॥ ५ ॥
गान्धारश्च निषादश्च वैश्यौ वर्णेन संस्मृतौ ।
अर्धेन पतितत्वाच्च शूद्रावेतौ प्रकीर्तितौ ॥ ६ ॥
एषां संक्षेपतो वक्ष्ये छन्दोनामान्यनुक्रमात् ।
गायत्र्युष्णिगनुष्टुप्च बृहती-पङ्क्ति-त्रिष्टुभः ॥ ७ ॥
जगती चेति विज्ञेयं छन्दसां सप्तकं बुधैः ॥ ८ ॥

टी०ः—(६) अन्तर-काकली को अर्ध-स्वर तथा शूद्र (दास के समान) कहा गया है; जिससे सिद्ध होता है, कि प्राचीन शास्त्रकार अन्तर-काकली को महत्त्व के स्वर नहीं मानते थे। परस्पर संवादी स्वर षड्ज-मध्यम-पंचम की गिनती ब्राह्मण-वर्ग में की गयी है। संवादी अर्थात् ब्राह्मण-वर्ग में ऋषभ-धैवत का भी अन्तर्भाव नहीं किया गया है। तात्पर्य, कि प्राचीन संगीत में तीव्र गान्धार-निषाद को षड्ज-संवादी स्वर नहीं मानते थे, अपितु उन्हें निम्न श्रेणी के तथा परावलम्बी समझते थे।

F : (३,४) N. ११४११,२ ; M. ७८, ७९, R. ११३१५४, ५५
(५, ६) N. ११४ । ३, ४; M. ६५, R. ११३१५२, ५४
(७,८) R. ११३१५८, ५९

M : १ -ष्यच २ -स ३ -मा- ४ क्ये- ५ कलनावस्तु ६ -षदा ७ वर्द्धन

गायत्र्यामृषभो ज्ञेयो, धैवतश्चोष्णिहि स्वरः ।
षड्जश्चानुष्टुभि प्रोक्तो, बृहत्यां मध्यमस्तथा ॥ ९ ॥

पङ्क्त्यां पञ्चमको ज्ञेयो, गान्धारस्यापि त्रिष्टुभि ।
स्वरो निषादो विज्ञेयो जगत्यां च मनीषिभिः ॥ १० ॥

"गीतोऽग्निना स्वरः षड्ज, ऋषभो ब्रह्मणोदितः ।
गीतः सोमेन गान्धारो, विष्णुना मध्यमः स्वरः ॥ ११ ॥

पञ्चमश्च स्वरो गीतो नारदेन महात्मना ।
धैवतश्च निषादश्च गीतौ तुम्बरुणा पुरा ॥ १२ ॥"

"आद्यस्य दैवतं ब्रह्मा षड्जस्याप्युच्यते बुधैः ।
तीक्ष्ण-दीप्ति-प्रकाशत्वादृषभस्य हुताशनः ॥ १३ ॥"

"गावः प्रगीते तुष्यन्ति गान्धारस्तेन हेतुना ।
श्रुत्वा चैवोपतिष्ठन्ति सौरभेया न संशयः ॥ १४ ॥"

"सोमस्तु पञ्चमस्यापि दैवतं ब्रह्मराट् स्मृतम् ।
•(निर्ह्रासो यस्य वृद्धिश्च ग्राममासाद्य सोमवत्) ॥ १५ ॥"

"अभिसन्धीयते यस्मादेतान्पूर्वोत्थितान्स्वरान् ।
•(तस्मादस्य स्वरस्यापि धैवतत्वं विधीयते) ॥ १६ ॥"

टी०:—(१४) 'सौरभेयः'= बैल; 'अनड्वान् सौरभेयो गौः' ०।
— अ० १८२६

Ad : (११, १२) N. ११५।१३, १४ pb:–'आग्निगीतः'; M. ८१–
(१४–१६) N. ११५।१६–१८

F : (११, १२) II १।३।५६, ५७
(१३) N. ११५।१५

M : १ थन्तुरुणा २ नैषादी देवता ३ –श्रु– ४ महाणोदितं ५ –धे– ६ –दि–

सोमवद्द वृद्धिमापन्नो धैवतः सोमदैवतः ।
"निषीदन्ते स्वरा यस्मान् निषादस्तेन हेतुना ।
सर्वांश्चाभिभवत्येष यदादित्योऽस्य दैवतम्" ॥ १७ ॥
मेघ-निर्घोष-संकाशं षड्जमाहुः शिखण्डिनः ।
यस्मादृषभमाधत्ते तस्मादृषभ उच्यते ॥ १८ ॥
अजश्चाविश्च कामार्तौ गान्धारं प्राहतुः स्वरम् ।
मदोन्मत्तौ सदा क्रौञ्चौ भाषेते मध्यमं स्वरम् ॥ १९ ॥
पुष्प-साधारणे काले पिको वदति पञ्चमम् ।
वसन्ते सप्तयो हृष्टा भाषन्ते धैवतं पुनः ॥ २० ॥
मदोन्मत्त-गजेन्द्राणां क्रोध-संरक्त-चक्षुषाम् ।
स्वरो निषादः प्रथमः श्रूयते कण्ठ-गर्जितैः ॥ २१ ॥

---

(१७) i इस श्लोक की प्रथम पंक्ति में त्रुटियाँ हैं। सोमवत् वृद्धिह्रास पञ्चम के विषय में कहना ठीक रहेगा, जैसा कि नारद ने कहा है।
ii मतंग ने दैवत-व्यवस्था अन्य प्रकार से कही है —
" गान्धारो भारती-देवो, मध्यमो हरदैवत। " इत्यादि।
iii बृहद्देशी में धैवत विषयक श्लोक छिन्नभिन्न है।
(१४-१८) षड्जादि शब्दों की ग्रन्थकार ने दी हुई निरुक्ति मूल में नारदोक्त है। 'धैवत' की निरुक्ति 'ध'-वर्ण की समानता पर आधारित है, 'ऋषभ' शब्द का आधार तत्समान अन्यवाचक ऋषभ शब्द पर रखा गया है। सारांश यह, कि स्वर नामों की यह निरुक्ति काल्पनिक है।
(२०) 'सप्ति'= घोडा, 'घोटके ...गन्धर्व हय-सैन्धव सप्तयः।'
—अ० १५५५
(१८-२१) i इसी अर्थ के 'षड्जं वदति मयूरो' इत्यादि नारद के दो श्लोक प्रसिद्ध ही हैं।
ii मतंग ने नारद के श्लोक ही उद्धृत किये हैं, किन्तु मुद्रित संस्करण T में उस स्थान पर 'तथा चाह कोहल महेश्वर' दिया हुआ है, जो ठीक नहीं है।

Ad (१७) ग १।५।११ ॥ १४ द्वितीय पंक्ति लुप्त है।

T (१७) ग १।२।५७-५८ 'वह्नि-ब्रह्म-सरस्वत्य' इत्यादि।

M १ -धे- २ स्या ३ -ष ४ -ष- ५ -स-

"षड्जः प्रीणाति वै देवान्, ऋषीन्प्रीणाति चर्षभः ।
पितॄन् प्रीणाति गान्धारो, गन्धर्वान्मध्यमः स्वरः ॥२२॥
देवान् पितॄनृषींश्चैव स्वरः प्रीणाति पञ्चमः ।
यक्षान् निषादः प्रीणाति, भूतग्रामं च धैवतः ॥ २३ ॥"

अथ स्थानानिः—

"कण्ठादुत्तिष्ठते षड्जः, शिरसस्त्वृषभः स्मृतः ।
गान्धारस्त्वनुनासिक्य, उरसो मध्यमः स्वरः ॥ २४ ॥
उरसः शिरसः कण्ठादुत्थितः पञ्चमः स्वरः ।
ललाटाद्धैवतं विद्यान्निषादं सर्व-सन्धिजम् ॥ २५ ॥
नासाकण्ठमुरस्तालु-जिह्वा-दन्तांश्च संश्रितः ।
षड्भिः सञ्जायते यस्मात्तस्मात्षड्ज इति स्मृतः ॥ २६ ॥
°(वायुः समुत्थितो नाभेः कण्ठ-शीर्ष-समाहतः ।
नर्दत्यृषभवद्यस्मात्तस्मादृषभ उच्यते) ॥ २७ ॥
वायुः समुत्थितो नाभेः कण्ठ-शीर्ष-समाहतः ।
नासा-गन्धवहः पुण्यो गान्धारस्तेन हेतुना ॥ २८ ॥
वायुः समुत्थितो नाभेरुरोहृदि समाहतः ।
नाभिं प्राप्तो महानादो मध्यमत्वं समश्नुते ॥ २९ ॥
वायुः समुत्थितो नाभेर्हृत्कण्ठोरसि रोहणः ।

टी० :—(२७) 'रम्भते, रेफते शब्दे गवाम्, उक्षणस्तु नर्दति ।'
—रू० ३ । १२० ॥

(२४-३१) i. षड्ज से पंचम तक के स्वरों के उत्पत्तिस्थान बताये हैं। धैवत और निषाद के विषय में पार्श्वदेव के श्लोक जो सिंहभूपाल ने उद्धृत किये हैं, वे निम्नानुसार हैं:—

Ad : (२२, २३) N. १।२।१५, १६
(२४-३१) N. १।५।५-१३

F : (२४-२६) M. ८५-८७ pb. "तालु-देशात्समुत्पन्नो धैवतस्तु..."
(२९) S. pb. "मध्यस्थान-भवत्वात्तु मध्यमत्वेन कीर्तितः।" (Vide-सिं०)

M : १ -ना

पञ्च-स्थान-स्थितस्यास्य पञ्चमत्वं विधीयते ॥ ३० ॥
धैवतं च निषादं च वर्जयित्वा स्वरद्वयम् ।
शेषान्पञ्च-स्वरांस्त्वन्यान्पञ्च-स्थान-स्थितान्विदुः ॥"
*("पञ्च-स्थान-स्थितत्वेन सर्व-स्थानानि धार्यते") ॥ ३१ ॥

" नाभे समुत्थितो वायु कण्ठ-तालु शिरोहृदि ।
तत्तत्स्थान धृतो यस्मात्ततोऽसौ धैवतो मत ॥ ॥
नाभे समुत्थिते वायौ कण्ठ-तालु शिरोहृते ।
निषीदन्ति स्वरा सर्वे निषादस्तेन कथ्यते ॥-॥" (१।३।२४)

II सामान्यत नाद की उत्पत्ति मतग ने " वन्हि-मारुत-सयोगात्०" कही है, मतग के वचन का विवेचन रत्नाकर ने "आत्मा विवक्षमाणो य०" इत्यादि श्लोकों में (१।३।१४) किया है। नाद शब्द की निरुक्ति **मतंग** ने 'नकार प्राण इत्याहु ' इत्यादि (श्लो २२ में) कही है, जिसका अनुवाद **रत्नाकर** ने (१ ३ ६) किया है। नाद ये दो प्रकार **रत्नाकर** ने बतलाये हैं। उनमें से 'अनाहत' नाद की उपासना योगी लोग करते हैं। 'अनाहत' नाद मनोरजक नहीं है, जब कि 'आहत' नाद सगीत में उपयुक्त एव मनोरजक होता है (१।२।१६६-६७)। "मन्द्रस्थान समुत्थो हि०" इत्यादि वचन में **मतंग** ने नादोत्पत्ति की रीति बतलायी है, " ब्रह्म ग्रन्थि-स्थित ०" इत्यादि श्लोक से (१।३।४) रत्नाकर ने उसीका अनुवाद किया है।

III नाद के 'सूक्ष्म', 'अतिसूक्ष्म' आदि पाँच प्रकार **मतंग** ने कहे हैं, जिसका अनुवाद **रत्नाकर** ने —

" नादोऽतिसूक्ष्म सूक्ष्मश्च पुष्टोऽपुष्टश्च कृत्रिम। " (१।३।५) इत्यादि श्लोक से किया है। मतगोक्त पचविध नाद इस प्रकार हैं —

" सूक्ष्मनादो गुहावासी, हृदये चातिसूक्ष्मक ।
कण्ठ-मध्य स्थितो व्यक्तश्चाव्यक्तस्तालु-देशके ॥२४॥
कृत्रिमो मुखदेशे तु, ज्ञेय पञ्चविधो बुधै ॥" (बृ०दे०)

इस वचन में कठ मे पैदा होनेवाली ध्वनि को 'व्यक्त' और केवल मुख प्रदेश से पैदा होनेवाली ध्वनि को "कृत्रिम' कहा है। "व्यक्त" और " अव्यक्त " नाद को ही रत्नाकर ने ' पुष्ट ' और 'अपुष्ट' कहा है। (पार्श्वदेवोक्त पाठ भी इसी प्रकार है।)

iv. उपनिषद् और तन्त्रग्रंथों में नादोत्पत्ति का जो वर्णन किया गया है, वह अधिकतर वेदान्तिक ढंग का है। इसी प्रकार **नादबिन्दूपनिषत्** में — "ब्रह्म-प्रणव-संलग्नो नादो ज्योतिर्मयात्मकः।" (४६-५२) इत्यादि वर्णन आया है। **ध्यानबिन्दूपनिषत्** में आया हुआ " मूलाधारात्सुषुम्ना च बिसतन्तुनिभा शुभा। अमूर्तो वर्तते नादो वीणादण्ड-समुत्थितः ॥ (१०१।६) " इत्यादि वर्णन भी इसी प्रकार है। स्वच्छन्दतन्त्र में बताया है, कि शिवशक्ति से 'शून्य' निर्माण हुआ, उससे 'स्पर्श' और 'स्पर्श' से नाद पैदा हुआ। नाद के नौ भेद इसी तन्त्र में कहे हुए हैं :—" घोष, राव, स्वन, शब्द, स्फोट, ध्वनि, झंकार, धङ्कृत और महाशब्द " (११-५-८)।

तात्पर्य, योगोपासना में प्रयोज्य ' नाद ' के उत्पत्तिस्थान शरीरस्थ चक्र, नाडी इत्यादि माने गये हैं। संगीतशास्त्रकारों ने नादोत्पत्ति के विषय में इसी वर्णन को स्वीकृत किया है। हमारे ग्रंथकारों ने :—

" न नादेन विना गीतं...तस्मान्नादात्मकं जगत्,... नादरूपो महेश्वरः।" (**बृ० दे०** १६, १७, १८) इत्यादि प्रकार से नाद की प्रशंसा की है और नाडी-चक्रों का वर्णन (**सं० र०** १-२-१२०-१६३) नादोत्पत्ति के विषय में किया है, वह तन्त्रादि ग्रंथों का अनुवाद है, यह कहने की आवश्यकता नहीं।

v. उपरोक्त श्लोकों में स्वरों के रंग, वर्ण, छन्द ऋषि, देवता, उत्पत्तिस्थान आदि विषयों का वर्णन आया है, जिसका सारांश आगे एक कोष्ठक में (पृ० ७१) दे रहे है।

इसके उपरान्त **मतंग** तथा **रत्नाकर** ने स्वरों के वंश कहे हैं :—सा-ग-म= देव-वंश; री-ध=ऋषि-वंश; प = पितृ-वंश; नि = असुर-वंश। षड्जादि के द्वीप-देश **रत्नाकर** ने—जंबू, शाक, कुश, क्रौञ्च, शाल्मली, श्वेत, पुष्कर इत्यादि बताये हैं (१।३।५५,५६)। रंग-वंशादि यह प्रपंच **भ० ना०** में नहीं है। तात्पर्य, इन कल्पनाओं का मूल शिक्षादि ग्रंथ हैं।

vi. **वैदिक** उदात्तादि स्वरों के विषय में ऋषि, दैवत, वर्ण आदि कल्पनाएँ मूलतः की गयी थीं, जिन्हें बाद में नारद-मुनि ने संगीत के स्वरों के साथ जोड दिया। उदात्तादि के दैवत-वर्णादि **याज्ञवल्क्यशिक्षा** में निम्नानुसार वर्णित हैं :—

" उदात्तश्चानुदात्तश्च स्वरितश्च तथैव च।
लक्षणं वर्णयिष्यामि **दैवतं स्थान**मेव च ॥१॥
शुक्लमुचं विजानीयान्नीचं लोहितमेव च।
श्यामं तु स्वरितं विद्यादग्निरुच्चस्य दैवतम् ॥२॥ "

—इत्यादि।

vii स्वरों के वर्ण-दैवतादि की जानकारी स्वरोपासना में उपयुक्त होती है, ऐसा स्पष्टीकरण सिंहभूपाल ने इस विषय के संबंध में किया है, जो निम्नलिखित है —

'ननु स्वराणां 'पद्मानां' इत्यादि वर्ण-- दैवत–निरूपण च कुत्रोपयुज्यते? स्वरोपासनायामिवेन हि।' (सं० र० १।३।५५,५६ सिं०) 'स्वर-बीज' **मतंग** ने किसी 'आगम' ग्रंथ से उद्धृत किये हैं, ऐसा प्रतीत होता है —

'आगमस्थ स्वरोद्धार एव तावत्प्रदर्शित' (पृ० १८,१९)। संभव है कि उक्त आगम ग्रंथ 'काश्यप-याष्टिकसंवाद-रूप सर्वागम-संहिता' नामक होगा जहाँसे **मतंग** ने 'भाषा लक्षणाध्याय' (पृ० १०४-१३३) उद्धृत किया है।

viii आगे के कोष्टक में नान्यदेवोक्त वर्ण-देवतादि बताते हुए साथ साथ हमने मतान्तर भी दिये हैं, जिससे स्पष्ट होगा, कि इस विषय में ग्रंथकारों में एकमत नहीं था।

ix. **स्वरनामों की निरुक्ति** बतलाने का प्राचीन ग्रंथकारों का प्रयत्न बडा ही कृत्रिम लगता है। नासा, कंठ, तालु आदि छ स्थानों से उत्पन्न होता है, अतएव उसे षड्ज कहा गया, पाँच स्थानों से पैदा होता है, अतः पंचम, तथा पूर्व के स्वरों को जोडता है, इस कारण धैवत नाम सार्थ हुआ इत्यादि निरुक्ति यथार्थ नहीं है।

x षड्जादि स्वरों का साम्य प्राचीन शास्त्रकारों ने **पशुपक्षियों के आवाज** से दर्शाया है, जैसा कि –मयूर=सा, वृषभ=री, बर्कर=ग आदि। स्वरज्ञान होने का यह लौकिक उपाय है, ऐसा स्पष्टीकरण **कल्लिनाथ** ने इस विषय के पक्ष में किया है —

"लोकतोऽपि षड्जादि-स्वरूप-परिज्ञानाय मयूरादिप्राणि विशेष ध्वनिं निदर्शनाभिप्रायेणाह —'मयूरे'ति।"

जर्मन वैदिक पंडित **आर. सीमन** (R. Simon) ने इस विषय में टीका की है —'It is remarkable that these fine shruti-systemists were so foolish as to use curlews' and cuckoos' calls and at the same time the word-stress for the fixation of the intervals' (PpS Eml p 523, S V svara)

तात्पर्य, स्वर ज्ञान का या स्वर परीक्षा का यह उपाय आधुनिक विद्यार्थियों को हास्यास्पद ही प्रतीत होगा।

xi. स्वर सात ही क्यों? इस प्रश्न का उत्तर भी प्राचीनों ने इसी प्रकार विनोदपूर्ण दिया है। उनका कथन है, कि शरीर धातु (रस-रक्तादि), नाडी चक्र या द्वीपदेश सात हैं, इस कारण से उनके आश्रित स्वरों की संख्या सात

ही होनी चाहिए। इस विषय में सिंहभूपाल ने मतंग-वचन उद्धृत किया है:— "तथा चोक्तं मतंगेन— 'ननु कथं सप्त स्वरा इति नियमः ? उच्यते:— यथा सप्तद्वीपाश्रितत्वेन...., तथा सप्तचक्राश्रितत्वेन, सप्तद्वीपाश्रितत्वेन वा सप्तैव स्वराः' इति।" (१।३।५४,५५)

इसी प्रकार शरीर में षड्जादि के उत्पत्तिस्थान कहे हैं, वे भी काल्पनिक हैं; उदाहरणार्थः—'षड्ज' नाम की निरुक्ति के आधारपर उसको छः अवयवों के साथ जोड दिया है। ऋषभ शिर से एवं गांधार नाक में से निकलता है, ऐसा आभास संभवतः किसी प्राचीन गायक या पंडित को हुआ होगा! कंठस्थित बाईस नाडियों से बाईस श्रुतियों के पैदा होने की कथा भी इसी प्रकार की है! ऐसी हि दूसरी कथा है, गान्धारग्राम के स्वर्गवासी होने की!

स्वरों के द्रष्टा ऋषि अग्नि, विष्णु, चन्द्रमा, तुंबरु आदि कहे हैं, यह व्यक्ति-नाम पौराणिक अत एव काल्पनिक ही समझना चाहिए। ग्रीक संगीत में भी इसी प्रकार स्वरों के शोधक सूर्य (Orpheus) सरस्वती (Muses) आदि देवताएँ कही है। इतना ही नहीं परंच अतिप्राचीन ग्रंथकार नारद, तुंबरु, रावण, ब्रह्मा, शिव, भरत, काश्यप आदि व्यक्ति भी पौराणिक याने काल्पनिक ही थे, ऐसा तर्क करना युक्तियुक्त होगा।

प्राचीन समय में वैज्ञानिक शोधों का अभाव होने से अज्ञात वस्तु या घटनाओं की उपपत्ति (Theory) बताने के लिए शास्त्रकार पौराणिक या कल्पित कथाओं का आश्रय लेते थे। इस बात का प्रमाण हमारे अन्य शास्त्रों में भी मिलता है। उदाहरणार्थः—मध्ययुग में पारा (mercury) विदेश से आता था, परन्तु हमारे रसवैद्यक के ग्रंथकारों ने उसको शिवजी का वीर्य बतलाया है! इसी तरह हिंगुल (Mercury Sulphide) को पार्वती का रज होने बाबत कहा है और उसके साथ पार्वती के समुद्र-स्नान की कथा जोड दी है!

इस प्रकार की अटकलबाजियाँ पुराने अनेक ग्रंथो में पाई जाती हैं, जिन्हें श्रद्धापूर्वक स्वीकार करनेवाले विद्वान् लोग उस समय अनेक थे, इसमें आश्चर्य नहीं; किन्तु महदाश्चर्य तो इस बात का है, कि आज बीसवीं शती में भी ऐसी मनगढंत कथाओ से इतिहास और विज्ञान की खींचातानी द्वारा खोज करनेवाले विद्वान् अचानक उपस्थित हो जाते हैं! उदाहरणार्थ, एक श्रुतिपंडित ने धैवत-द्रष्टृत्व के 'कथाकल्पतरु' के आधार पर तुंबरुजी के गले में 'षड्जान्तर-भाव =Consonance of third सधन्यवाद बाँध दिया है!

सारांश, स्वरों का रंग-जाति-स्थान आदि वर्णन केवल काल्पनिक है। इन सभी तथ्यों से प्रमाणित होता है, कि हमारा प्राचीन स्वरशास्त्र प्राथमिक अवस्था का था। कण्ठस्थ ध्वनीन्द्रिय की रचना तथा कार्यप्रणाली प्राचीन शास्त्रकारों को ज्ञात नहीं थी।

वर्ण-देवतादि-दर्शक कोष्ठक

षड्ज	लाल	ब्राह्मण	गायत्री अनुष्टुभ् (R.)	अग्नि	ब्रह्मा अग्नि (R.)	देव	कंठ
ऋषभ	किंचित् पीला	क्षत्रिय	उष्णिह् गायत्री (R.)	ब्रह्मा	अग्नि ब्रह्मा (R.)	ऋषि	शिर
गान्धार	गहरा पीला	वैश्य	अनुष्टुभ् त्रिष्टुभ् (R.)	चन्द्रमा	सरस्वती (M.,R.)	पितर	नासिका
मध्यम	सफेद	ब्राह्मण	बृहती	विष्णु	शंकर (M.,R.)	गंधर्व	उर
पंचम	काला	ब्राह्मण	पंक्ति	नारद	चन्द्र (?) विष्णु (R.) शतक्रतु (M.)	देव इ०	उर,शिर कंठ इ०
धैवत	पीला	क्षत्रिय	त्रिष्टुभ् उष्णिह् (R.)	तुंबरु	चन्द्र गणेश (M.,R.)	भूतगण	ललाट तालु (M.)
निषाद	कर्बुर (P.) (सर्ववर्ण)	वैश्य	जगती	तुंबरु	सूर्य	यक्ष	सर्व संधि
अंतर गान्धार	०	शूद्र	०	०	०	०	०
काकली निषाद	०	शूद्र	०	०	०	०	०

अथ ग्राम-त्रय-मण्डल-प्रकरणं द्वितीयम्

अथ स्वराणामेतेषां.....मण्डलं...।
ग्रामत्वं वाचकाकाले (?) काकल्यन्तरयोर्विधिम् ॥ ३२ ॥
ग्राम-त्रय-विभागं च श्रुति-भेदै-कृतं तथा ।
द्वाविंशतिं तथा श्रुती यथाग्रामेष्वपि त्रिषु ॥ ३३ ॥
षड्जर्षभ-गान्धार-मध्यम-पञ्चम-धैवता निषादवन्तः स्वराः ।
श्रुति-सहिता मूर्च्छना-तानयुता मण्डल.......भन्ते॥३४॥
एषां मध्ये श्रुत्युत्कर्षापकर्षवान् स्वर-विशेष-
-प्रधानभूत-स्वरोपचितो ग्राम इत्युच्यते ॥ ३५ ॥
सप्त-स्वरोपचितास्त्रयो ग्रामाः ।
षड्जग्रामो मध्यमग्रामो गान्धारग्राम इति ॥ ३६ ॥
षड्जग्रामः प्रसन्नादिरनुदात्तप्रधानकः ।
मध्यमः स्वरितादिश्च स्यादुदात्तानुदात्तवान् ॥ ३७ ॥
उदात्तादिस्तु गान्धारग्रामः सति (?) रिहोच्यते ।
एवं स्वरत्रयकृता ग्रामत्रयभेदा भवेयुः ॥ ३८ ॥
षड्जर्षभ-गान्धार-मध्यम-पञ्चम-धैवतैः सनिषादैः ।
क्रमते षड्जग्रामोभि.......(?) ॥ ३९ ॥

स्प०—(३३) इसके पश्चात् 'प्रति-ग्रामे मूर्च्छनादि-भेदांस्तान-विधि तथा ।' इत्यादि श्लोक आया है, जो इस स्थान पर असंगत होने से आगे श्रुति-प्रकरण में समाविष्ट किया है ।

(३९-४९) यह श्लोक अ० ४ में पृ० ६४ पर दिये हुए हैं, जो उक्त विषय के अनुसंधान में हमने यहाँ उद्धृत किये हैं ।

टी०:—(३९-४९) i. यह श्लोक बहुत महत्त्वपूर्ण है, कारण कि तीनों ग्रामों के प्रारंभिक स्वर नान्यदेव ने इन श्लोकों द्वारा स्पष्ट किये हैं ।

M १-१ -स्वरयो २ -च ३ -गत्र ४ -दे ५ -तिस ६ -भ्रः ७ -च्छि ८ मान् ९ -श्रु- १० स्वरानुरोप- ११ -दौ

तर्हि गान्धारस्य द्विश्रुतेः कथं ग्रामत्वम्? सत्यम्।
गान्धारः षड्जग्रामे मध्यमग्रामे च द्विश्रुतिः।
स्वग्रामे तु चतुःश्रुतिरेव ॥ ५१ ॥
अत्र स्वरास्त्रयश्चैव ग्रामत्वमागच्छन्ति।
एतन्मुनिवचनसिद्धत्वात् ॥ ५२ ॥
यदाहाभिनवगुप्तो मतान्तरे—
"एषां श्रुत्युत्कर्षात्प्राधान्य-पुरुषतां त्रयस्यैव।
स्वर-गणित-संहितस्यो....नाया ग्रामत्वमाज्ञा (?)
वदति" ॥ ५३ ॥

उसका यह एक अच्छा उदाहरण है। गान्धारग्राम की उत्पत्ति एवं लय का विचार ऐतिहासिक दृष्टि से करना चाहिए। प्राचीन-मध्ययुगीन ग्रंथकारों की दृष्टि ऐतिहासिक तो थी ही नहीं। ऐसा प्रतीत होता है, कि प्राचीन संगीत में किन्हीं दो थाट के दो सप्तक प्रमुख माने जाते थे। तथा तृतीय गान्धारग्राम केवल औपपत्तिक (Theoretical) ही रहा होगा।

ii. गान्धारग्राम स्वर्ग में प्रचलित है, ऐसा कहा है; जिससे अनुमानित होता है, कि यह सम्भवतः विदेशी (ग्रीक) सप्तक होगा तथा विशेष उपयुक्त प्रतीत न हुआ होगा। ग्रीक संगीत में भी प्रारंभ में तीन 'ग्राम' प्रचलित थे (Artx. Intro. p.10-15)। एवं बाद में एक ही ग्राम अवशिष्ट रहा (Ibid, p. 34)।

iii. मतंग ने नारद के श्लोक 'देव-कुल-समुत्पन्नाः' इत्यादि उद्धृत किये हैं। तथा 'षड्ज-व्याप्ति च मुख्यत्वं गम्यते वचनान्मुनेः।' इस प्रकार षड्जग्राम तीनों ग्रामों में प्रमुख कहा है। मतंग के उक्त श्लोक सिंहभूपाल ने 'षड्जस्यैव हि मुख्यत्वं' इस प्रकार उद्धृत किये हैं, तथा वे शुद्ध भी प्रतीत होते हैं।

iv. "षड्ज-मध्यम-संज्ञौ तु द्वौ ग्रामौ विश्रुतौ किल। गान्धारं नारदो ब्रूते, स तु मर्त्यैर्न गीयते ॥ ९१ ॥" मतंग ने इस प्रकार कहते हुए, उसके उपरान्त 'ग्राम दो ही क्यों' इस प्रश्न पर विचार-विमर्श किया है, जो निम्नानुसार है:—

"ननु कथं षड्ज-मध्यम-स्वराभ्यां ग्राम-व्यपदेशः? उच्यते। असाधारणत्वं च देव-कुल-समुत्पन्नत्वेन। तथा चाह नारदः-'देव-कुल-समुत्पन्नाः षड्ज-गान्धार-मध्यमाः।' इत्यादि; परंतु इस की अपेक्षा सिंहभूपाल का बताया हुआ चतुःश्रुतित्व का कारण अधिक ग्राह्य प्रतीत होता है।

द्वौ ग्रामौ भरतेनोक्तौ, ग्रामो गान्धार-पूर्वकः ।
अतितारातिमन्द्रत्वाद् वैस्वर्यं; नोपदर्शितः ॥ ५४ ॥
स च स्वर्गे नारदाद्यैव गीयते । तथा च दैत्तिलः,
"स[1] तु[2] नेहोपलभ्यते" इति ...[5] ॥ ५५ ॥
गन्धर्वैर्गीयते स्वर्गे ग्रामो गान्धार-पूर्वकः ।
अतितारातिमन्द्रत्वान्नात्र गायन्ति मानवाः ॥ ५६ ॥

३ अथ ग्राम-भेद-प्रकरणं तृतीयम्

अथ ग्राम-भेदाः । यथाऽह भरतः,
"तिस्रो, द्वे, च चतस्रश्च, चतस्रस्तिस्र एव च ।
द्वे, चतस्रश्च षड्जाख्ये ग्रामे श्रुति-निदर्शनम्" ॥ ५७ ॥

---

v. मतंग की भाँति रत्नाकर ने भी षड्जग्राम को प्रधान कहा है। एवं इस संबंध में षड्ज के संवादी स्वर अधिक होते हैं, यह कारण प्रस्तुत किया है। इसके अतिरिक्त मध्यम स्वर के अवर्ज्य होने का कारण बता कर मध्यमग्राम को 'पुरःसर' कहा है (१।४।६।)। साराश, प्राचीन-मध्ययुगीन ग्रंथकार ग्रामों के मुख्यामुख्यत्व को समझने एवं समझाने में असमर्थ ही रहे हैं।

vi. सप्त-स्वरों में षड्ज स्वर प्रथम है तथा भरतादिकों ने षड्ज-ग्राम का वर्णन प्रथम किया है; जिससे निर्णीत होता है, कि तीनों ग्रामों में षड्जग्राम का सप्तक आद्य और प्रमुख था। गान्धारग्राम का सप्तक नारद के पूर्व ही अप्रचलित हो गया था।

षड्जग्राम का मुख्य स्वर षड्ज मानने पर भी वास्तव में मध्यम ही उसका आधार-स्वर था, कारण षड्जग्रामिक सप्तक में यदा-कदा षड्ज का लोप हो सकता था, किन्तु मध्यम कभी भी वर्जित नहीं होता था। इसका अर्थ यह हुआ कि, षड्जग्राम वस्तुतः plagal mode ही था।

vii. किसी भी सप्तक का आदिम (lowest) स्वर यदि उसका आधार स्वर (final or tonic) होता हो, तो ऐसे सप्तक को मूल सप्तक (authentic mode) कहते हैं; एवं चतुर्थ स्वर जिस सप्तक में उसका आधार-स्वर (tonic) होता हो, तो ऐसे सप्तक को उप-सप्तक (plagal mode) कहा जाता है। प्राचीन ग्रीक संगीत में तथा क्रिस्तानी धार्मिक संगीत में उप-सप्तकों

M : १-श्री २ नारद- ३ से ४ तु ५ स्थित

षड्जादि-क्रममुक्त्वा सूत्रेणैव षड्जादि-श्रुति-क्रममाह—
"षड्जश्चतुःश्रुतिर्ज्ञेय, ऋषभस्त्रिश्रुतिस्तथा ।
गान्धारो द्विश्रुतिर्ज्ञेयो, मध्यमस्तु चतुःश्रुतिः ॥ ५८ ॥
चतुःश्रुतिः पञ्चमः स्याद्, धैवतस्त्रिश्रुतिस्तथा ।
निषादवान् द्विश्रुतिकः षड्जग्रामे भवन्ति हि" ॥ ५९ ॥
[इति षड्जग्रामः ।]

अथ मध्यमग्रामः । श्रुतयस्तत्र (यथाऽऽह) भरतः ।
यदाऽन्योन्यविपर्यस्ते श्रुती पञ्चम-धैवतौ ।
तदा तं मध्यमग्रामं प्रवदन्ति मनीषिणः ॥ ६० ॥

का प्रयोग होता था और आज भी हो रहा है। मूल-सप्तक एवं उपसप्तक का उदाहरण निम्ननिर्दिष्ट है:—

१. मूल-सप्तकः—रे ग म प ध नि स रे
(रे ... ध : × ... D)

२. उप-सप्तकः—रे ग म प ध नि स रे
(रे ... ध : D ... ×)

उपरिनिर्दिष्ट दोनों सप्तकों का × चिन्हाङ्कित स्वर आधार-स्वर हैं।
१ः में D=Dominant=धैवत इस सप्तक का पचम है, तो
२ः में D=Dominant=ऋषभ इस सप्तक का मध्यम है।
उपरिनिर्दिष्ट अं० २ः के अनुसार प्राचीन षड्जग्राम में चतुर्थ स्वर आधार-स्वर है, जिससे वह उपसप्तक हो गया। साराश, प्राचीन संगीत का आदिम तथा मुख्य सप्तक षड्जग्राम था एव ष० ग्राम-सप्तक 'उपसप्तक' के वर्ग का था।

viii उप-सप्तक-जातिक षड्ज-ग्राम का स्वरूप निम्नानुसार होगा:—

स रे ग़ म प ध नि़ स

इसमें आधार स्वर (tonic) मध्यम है। इसी आधार-स्वर को आदिम स्वर कर लेने पर इसका स्वरूप इस प्रकार होगा:—

ष०ग्राम.— म प ध नि़ सा रें ग़

षड्जग्रामिक तथा अन्य-ग्रामिक सप्तकों के स्वर-मूल्यों का विचार आगे करेंगे।

Ad : (५७,५८,५९) ॥ २८।२५,२६,२७

M : १ स्तु

सैन्दीपन्याभिधाऽऽयता धैवतं व्रजति श्रुतिः ।
पञ्चमस्त्रिश्रुतिस्तेन मध्यमग्राम उच्यते ॥ ६१ ॥
आयतायाः प्रभेदो यः सैन्दीपन्याभिधः स्मृतः ।
पञ्चमान्मध्यमग्रामे स धैवतमनुव्रजेत् ॥ ६२ ॥
°[इति मध्यमग्रामः ।]

°[अथ गान्धारग्रामः ।]
मृद्वी-मध्या-प्रभेदाभ्यां मध्यमर्षभयोस्तथा ।
प्रीति-रञ्जनिकाभ्यां च यथाक्रममुपाश्रितः ॥ ६३ ॥

टी०:— i. श्लो० ६१, ६२में नान्यदेव का कथन है, कि मध्यमग्राम में पंचम की तृतीय श्रुति संदीपनी धैवत को प्राप्त होती है । अन्यान्य ग्रंथकारों के मतानुसार पंचम की चतुर्थ अर्थात् अंतिम श्रुति 'आलापिनी' धैवत के श्रुतिक्षेत्र में सम्मिलित हो जाती है ।

ii. आगे श्लो० ६४, ६५ में गान्धारग्राम का वर्णन आया है, उसमें भी उपरोक्त के अनुसार कहा गया है, कि ऋषभ की द्वितीय एवं मध्यम की तृतीय श्रुति गान्धार को प्राप्त होती है । इससे नान्यदेव का अभिप्राय यह विदित होता है, कि स्वर अपनी अंतिम (स्वरस्थानस्थ) श्रुति का त्याग नहीं करता है, उसी पर स्थिर रहता है, जब उसकी पूर्ववर्ती श्रुतियों का आदान-प्रदान हो सकता है ।

iii. आगे स्वर-साधारण-प्रकरण में भी नान्यदेव द्वारा श्रुति-चलन की यही व्यवस्था बतायी हुई है ।

iv. हो सकता है, कि यह विपर्यास लिपिकार-प्रमाद से हो गया हो । किन्तु श्लोक के शब्द स्पष्ट हैं ।

स्प०— (६२, ६३) श्लोक ६२ तथा ६३ प० ६४ पर अ० ४ में आये हुए संदर्भवशात् इस स्थान पर उद्धृत किये हैं ।

टी०:— (६३-६६) i. गान्धारग्राम की श्रुति-स्वर-व्यवस्था वर्णित है । मध्यम की तृतीय श्रुति 'प्रीति' एवं ऋषभ की द्वितीय श्रुति 'रंजनी' द्विश्रुतिक शुद्ध गाधार को मिल जाने से वह चतुःश्रुतिक बन जाता है । चतुःश्रुतिक अन्तर-काकली की अपेक्षा यह श्रुति-व्यवस्था भिन्न है, कारण कि इससे मध्यम और ऋषभ त्रिश्रुतिक बन जाते हैं ।

M: १ मध्या यद्या प्रीत्यभिध्य धैवतं व्रजति श्रुति-। २ ■ ३ स्तदोच्यते ४ सन्तापन्या- ५ षड्जमयो ६ मन्दा-प्रीति-श्रुती-श्रुतिभ्यां

मध्यमस्य व्रजेदेका मूर्छी प्रीत्यभिधा यदा ।
गान्धारमृषभस्यापि मध्या रञ्जनिका श्रुतिः ॥ ६४ ॥
कं . . . . ।
चतुःश्रुतिश्च गान्धारः, पैधौ त्रिश्रुतिकौ यदि ।
गान्धारग्रामभित्येवं राजनारायणोऽभ्यधात् ॥ ६५ ॥
गान्धारस्तु स्वके ग्रामे चतुःश्रुतिक उच्यते ।
ग्रामेषु त्रिषु शेषास्तु चतस्रः पूर्ववन्मताः ॥ ६६ ॥

---

ii श्रुतियों का इसी रीति का वितरण रत्नाकरोक्त 'साधारण' गान्धार एव 'कैशिक' निषाद स्वरों की उत्पत्ति में प्रयुक्त हुआ है, यद्यपि वहाँ एक स्वर की एक-एक श्रुति अन्य दो स्वरो को प्राप्त हो जाती है।

iii तीनों ग्रामो के श्रुति स्वरान्तर निम्नानुसार हैं —

प०ग्रा०:—४स,	३रे,	२ग,	४म,	४प,	३ध,	२नि
म०ग्रा०:—४म,	३प,	४ध,	२नि,	४मं,	३रें,	२ग
गा०ग्रा०:—४ग,	३म,	३प,	३ध,	४नि,	३स,	२रें

iv गान्धारग्राम का आधार-स्वर (Tonic) गान्धार मान लेने से जो नया सप्तक (mode) बन जाता है, वह निम्नानुसार है.—

४ग,	३म,	३प,	३ध,	४नि,	३स,	२रें,	४ग
४स,	३रे,	३ग,	३म,	४प,	३ध,	२नि,	४स

v गान्धारग्राम से पैदा हुए इस नये सप्तक (=थाट) के स्वर-संवाद निम्नानुसार हैं —

१३ श्रुतिक संवाद (रे=ध)

स, ३ रे, ३ ग, ३ म, ४ प, ३ ध, २ नि, ४ स

९ श्रुतिक संवाद

१३ श्रुतिक संवाद

९ श्रुतिक संवाद (=म नि)

इस नये सप्तक में स्वरों के संवाद इस प्रकार हैं —

F: (६३ ६५) M. ८९-९३, B १४।१-५

M: १ मध्या २ पा ठो द्वि त्रि ती रो

(१) षड्ज-मध्यम-पंचम परस्पर संवादी हैं ।
(२) मध्यम-निषाद परस्पर संवादी हैं ।
(३) ऋषभ-पचम का संवाद नहीं है ।
(४) ऋषभ-धैवत परस्पर संवादी हैं ।
[(५) गान्धार-निषाद-संवाद नहीं है ।]

गान्धारग्राम-जन्य थाट का गान्धार प्राचीन शुद्ध गान्धार (म-भावी ॥ २८४⅘; c: २९४) से एक श्रुति उच्च है, अर्थात् यह गान्धार षट्-श्रुतिक है, जो इस थाट का वैशिष्ट्य है । इस थाट के अन्य सभी स्वर एवं स्वर-संवाद षड्ज-ग्रामिक के अनुसार हैं । इसी त्रिश्रुतिक गान्धार को रत्नाकर ने 'साधारण' की संज्ञा देकर पुनरुज्जीवित किया ।

vi. गान्धारग्राम का निर्देश तक भरत ने नहीं किया है । किन्तु अन्य सभी प्राचीन ग्रंथकारों ने किया है । **नारदी** शिक्षा में इसका उल्लेख इस प्रकार किया गया है:—

"षड्ज-मध्यम-गान्धारास्त्रयो ग्रामाः प्रकीर्तिताः ।
भूर्लोकाज्जायते षड्जो, भुवर्लोकाच्च मध्यमः ॥ १-२-६ ॥
स्वर्गान्नान्यत्र गान्धारो, नारदस्य मतं यथा ॥ ७ ॥"

दत्तिल का वचन इस विषय में निम्नलिखित है:—

"स्वराः षड्जादयः सप्त, ग्रामौ द्वौ षड्ज-मध्यमौ ।
केचिद् गान्धारमप्याहुः, स तु नेहोपलभ्यते ॥ ११ ॥"

मतंग का वचन गान्धारग्राम के विषय में निम्नानुसार है:—

"षड्ज-मध्यम-संज्ञौ तु द्वौ ग्रामौ विश्रुतौ किल ।
गान्धारं नारदो ब्रूते, स तु मर्त्यैर्न गीयते ॥ ९१ ॥"

रत्नाकर का कथन इस प्रकार है:—

"तौ द्वौ धरातले तत्र स्यात्षड्जग्राम आदिमः ॥ १।४।१ ॥
द्वितीयो मध्यमग्रामः.................. ॥
गान्धारग्राममाचष्ट............नारदो मुनिः ।
प्रवर्तते स्वर्ग-लोके ग्रामोऽसौ न महीतले ॥ ५ ॥"

इसी प्रकरण के श्लो० ३, ४ में रत्नाकर ने गान्धारग्राम की श्रुति-स्वर-व्यवस्था बतायी है ।

तात्पर्य नारद भरत के समय पूर्व ही गान्धारग्राम इतिहास में प्रविष्ट हो चुका था ।

vii. मतग तथा रत्नाकर ने गान्धारग्राम से उत्पन्न होनेवाली कोई 'जाति' या

राग का निर्देश तक नहीं किया है। किन्तु नान्यभूपाल ने रागाध्याय में गान्धारग्राम-जन्य लगभग २६ रागों का उल्लेख पृ० ७९ पर किया है।

viii. प्रचलित भैरव, पूर्वी, मारवा आदि लगभग सात थाट षड्जग्राम तथा मध्यमग्राम इन दोनों से बिना किसी खींचातानी के पैदा नहीं हो सकते। इसी कारण से ऐसे थाटों को पैदा करने के लिए कतिपय श्रुतिपण्डित गान्धारग्राम को पुनर्जीवित कराते हुए उसका आश्रय लेते हैं। उन्होंने गान्धारग्रामिक सप्तक भी अनेक प्रकार से अनुमानित किया है। (सं० क० वि०, अगस्त १९५६ और दिसंबर १९५८ 'स्वर विहार श्रुति रहस्य'–पठ०)

ix सं० रत्नाकर ad में पृ० ३९४ पर गान्धारग्राम के श्रुत्यन्तर गान्धार से आगे ३, ३, ३, ४, ३, ३, ३, इस प्रकार अपपठित दिये हुए हैं। एक श्रुतिलेखक ने उक्त भ्रामक पाठ का आधार 'प्राचीन' नाम से लेकर गान्धारग्राम एवं तज्जन्य भैरवादि थाटों को सिद्ध करके बताया है। तदुपरान्त आपने 'रत्नाकरोक्त' गान्धारग्राम के श्रुत्यन्तर निम्नानुसार दिये हैं —

(षड्ज से=) 'स २ रे ४ ग ३ म ३ प ३ ध ४ नि स' और लिखा है, कि 'गान्धारग्राम में ऋषभ धैवत द्विश्रुतिक होते हैं, यही उसका वैशिष्ट्य है' (सं० क० वि०, दिसंबर १९५८, पृ० ६०२, ६०३ पठ०–)।

x क्लेमेण्ट्स् ने गणितशास्त्र का क्लिष्ट आधार लेकर गान्धारग्राम का कुछ विचित्र ही विश्लेषण किया है —

'The गान्धारग्राम has always presented difficulties to the student, and has always proved an attractive problem in spite of the fact that it was obsolete in शार्ङ्गदेव's time

The difficulty of the problem attaches to the च्युत प, which divides the six-shruti interval between म and ध into two intervals of three shrutis Now, two minor-tones $\frac{10}{9} \times \frac{10}{9}$ are greater than a minor-third ($\frac{6}{5}$ or six shrutis) Here, then, is another practical example of the inequality of the shrutis If प is taken to be a minor-tone or three shrutis below ध, the interval separating it from म b/ (३२० क.) will be $\frac{27}{25}$, a difficult interval to sing This may account for the disappearance of the गान्धारग्राम' (p 56-57)

xi प० अहोबल ने गान्धारग्राम का वर्णन निम्नानुसार किया है —

'श्रुति-त्रय-समायुक्तो यदा गो मेहगो भवेत् ॥ १०१ ॥
गान्धारग्राम आख्यातस्तिसृभिः श्रुतिभिः परे।
चतुःश्रुतिर्निषादः स्याद् षड्जोऽपि तिसृभिर्युतः ॥ १०२ ॥'

अहोबल ने किया हुआ यह वर्णन बराबर नहीं है। अहोबल ने मध्यमग्रामिक निषाद त्रिश्रुतिक बताया है (श्लो० १००), यह भी उसी प्रकार अपूर्ण है।

४ अथ मण्डल-प्रस्तार-प्रकरणं चतुर्थम्

[अथ षड्जग्रामिक-मण्डल-प्रस्तारः]

तिर्यगूर्ध्वमधस्तात्षट्पञ्च रेखाः प्रपातयेत् ।
ऊर्ध्वमीपच्च विन्यस्य कुर्याद्विंशति-कोष्ठकान् ॥ ६७ ॥
आलात-चक्र-प्रतिमं स्वर-चक्रं च कारयेत् ।
द्वाविंशतिश्च श्रुतयो यथा-रेखानुगा इह ॥ ६८ ॥
ईशान-कोण-विन्यस्त-रेखाग्रे षड्जमालिखेत् ।
चतुर्थं ऋषभं न्यसेत्षष्ठे गान्धारमेव च ॥ ६९ ॥
पतितायां द्वितीयायां मध्यमं विन्यसेत्तथा ।
ऋषभ-स्पृष्ट-रेखायामालिखेत्पञ्चमं स्वरम् ॥ ७० ॥

टी० :— (६७–७१) i. षड्जग्रामिक श्रुति-स्वर-व्यवस्था मंडलप्रस्तार से निम्न के अनुसार बतायी है:—

श्लो० ६७; पं० १: MS. के पाठ के अनुसार केवल पाँच रेखाओं का निर्देश है। ग्रंथकार की आगे कही हुई व्यवस्था को देखकर यह पंक्ति हमने शुद्ध की है। श्लोकों का अर्थ हम इस प्रकार लगाते हैं:—(६७) "तिर्यगूर्ध्वम्०" इत्यादि = आडी (=horizontal) छः रेखाएँ निकाली जाँय, तदनंतर उनको छेदनेवाली पाँच खडी (perpendicular) रेखाएँ खींच ली जाँय। "ऊर्ध्वमीपच्च०" इत्यादि = सभी रेखाओं के नोक किंचित् बाहर की ओर छोड दिये जाँय; जिससे मध्यवर्ती क्षेत्र में बीस खण्ड बन जायेंगे। (६८) "द्वाविंशतिश्च श्रुतयो यथा-रेखानुगा०" इत्यादि = बहिर्वर्ती २२ रेखाग्रोंपर २२ श्रुतियों की गिनती की जाय। "आलातचक्र-प्रतिमम्०" इत्यादि = एवं आलात-चक्र के अनुसार श्रुत्यन्तरों की संख्या को दृष्टि में रखकर रेखाग्रों पर स्वर-नाम चक्राकार पद्धति से लिखे जाँय। "ईशान-कोण-विन्यस्त०" इत्यादि = ईशानदिशा में कोण के रेखाग्र पर षड्ज का नाम लिखा जाय। चतुर्थ रेखाग्र पर ऋषभ एवं षष्ठ रेखाग्र पर गान्धार लिखें। "पतितायां द्वितीयायाम्" इत्यादि= बाईं ओर से द्वितीय रेखाग्र पर मध्यम तथा ऋषभवाले रेखाग्र के विरुद्ध बायें रेखाग्र पर पंचम स्वर को लिखें। "षड्ज-दण्डस्य यन्मूलम्०" इत्यादि=षड्ज

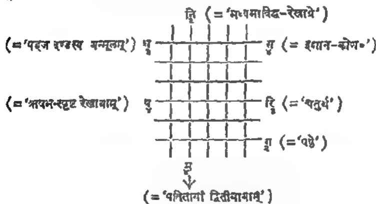
M: १-स्वाच रेखाः पञ्च प्रपातयेत् २-मी-३ चक्रे ४ मध्यतायां चतुर्थ ५-स्वरः

षड्जे-दण्डस्य यन्मूलं कारयेत्-तत्र धैवतम् ।
मध्यमाविद्ध-रेखाग्रे निषाद-स्वरमालिखेत् ॥ ७१ ॥

'[इति षड्जग्रामिक-स्वर-मण्डल-प्रस्तारः]
'[अथ मध्यमग्रामिकः स्वर-मण्डल-प्रस्तारः। स यथाः-]
ऊर्ध्वायतादि-रेखायां विन्यस्य मुख-पुच्छयोः ।
मध्यममृषभं चैव; चतुर्थ्यामपि पूर्ववत् ॥ ७२ ॥

की रेखा के विरुद्ध वायें, उसके अग्र पर धैवत का नाम एवं मध्यम के सम्मुख विरुद्ध दिशा के रेखाग्र पर निषाद का नाम लिखें।

ii नान्यदेव के उपरोक्त कथनानुसार ष० ग्रामिक श्रुति स्वर-चक्र इस प्रकार बनेगा —



iii उपरोक्त चक्र में श्रुति-स्वरों की गति ऊपर से नीचे बाईं ओर (दक्षिणत = Clock wise) रखनी चाहिए, अन्यथा परिणाम ठीक नहीं आयेगा।

iv रेखाऐं भी खडी पाँच एवं आडी छः होनी चाहिए, अन्यथा नान्यदेवोक्त व्यवस्था कार्यान्वित नहीं हो सकती।

v मतंग ने रेखाओं की संख्या इससे विपरीत कही है। मण्डलप्रस्तार मतंग ने निम्नानुसार कहा है —

'एतदेव स्पष्टीकरणार्थं प्रस्तारेण दर्शयामि। तत्र केचिद् दण्ड-प्रस्तारेण दर्शयन्ति द्वाविंशति श्रुतयो रेखाणामिति। अन्ये तु वीणा-प्रस्तारमाहुः। वयं पुनर्मण्डल-प्रस्तारं ब्रूमः। तथा हि—तिर्यगूर्ध्वं च पञ्च षड् रेखा इत्येकादश। उभयतो द्वाविंशति।' इत्यादि (पृ० १०)

M: १ षड्जे १- धि- २ मुख-

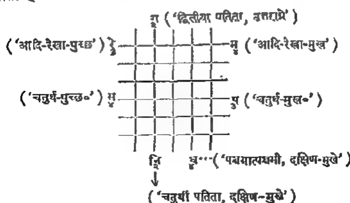
पञ्चमं सह षड्जेन; द्वितीया पतिता च या।
उत्तराग्रे तु गान्धारं, निषादं दक्षिणे मुखे ॥ ७३ ॥
पञ्चमात्पञ्चमी रेखा या तस्या दक्षिणे मुखे।
विद्ध्याद् धैवतं चेति मध्यग्रामे श्रुतिक्रमः ॥ ७४ ॥
[इति मध्यमग्रामिकः स्वर-मण्डल-प्रस्तारः।]

ग्रामौ ज्ञात्वैवमालिख्यौ निर्दिष्टौ षड्ज-मध्यमौ ॥ ७५ ॥

रत्नाकर ने वीणा पर स्वरान्तरों के विभाग रेखाङ्कन द्वारा बताये हैं, वही मतंग-निर्दिष्ट वीणा-प्रस्तार होगा।

टी०:—(७२-७४) मध्यमग्रामिक श्रुति-स्वर-मंडल उपर्युक्त षड्जग्रामिक मंडल के अनुसार ही होगा। 'ऊर्ध्वायतादि-रेखायाम्०' = आडी रेखाओं में से ऊपर की प्रथम रेखा के दाहिने अग्र ('पुच्छ') पर ऋषभ को लिखिए। 'चतुर्थ्यामपि पूर्ववत्०' = चतुर्थ (= मध्यम से तृतीय) आडी रेखा के दाहिने अग्र पर पंचम को एवं उसी के ठीक बायें अग्र पर षड्ज को लिखिए। 'द्वितीया पतिता०' = बाईं ओर से द्वितीय खडी रेखा के ऊपर के अग्र ('उत्तराग्रे') पर गान्धार तथा नीचे के अग्र पर ('दक्षिण-मुखे') निषाद स्वर लिखें। 'पञ्चमात्पञ्चमी रेखा या०' = पंचम से नीचे पाँचवे रेखाग्र पर ('दक्षिण-मुखे') धैवत को लिखें।

नान्यदेव के कथनानुसार मध्यमग्रामिक स्वर-मंडल निम्न प्रकार से बन जाता है:—



M: १ चतुर्थी २ ज्ञात्वैमावालिख्यौ ग्रामौ

°[अथ गान्धारग्रामिक-स्वर-मण्डल-प्रस्तारः। स यथाः–]

योऽत्र तृतीयो गान्धारग्रामः स्वर्गेऽनुगीयते ।
तस्य प्रस्तार-योगं तु गन्धर्व-पतयो विदुः ॥ ७६ ॥

ऊर्ध्वायतादि-रेखायां गान्धारं विन्यसेत्तथा ।
ऊर्ध्वा रेखा चतुर्थी या लिखेत्तस्यां च मध्यमम् ॥ ७७ ॥

पतितायां द्वितीयायां पञ्चम्यां चैव दक्षिणे ।
धैवतं पंचमं चेति क्रमेण विनिवेशयेत् ॥ ७८ ॥

गान्धार-मध्यमाविद्ध-रेखा-पुच्छ-द्वये पुनः ।
षड्जं चैव निषादं च विन्यसेत्क्रमशो बुधः ॥ ७९ ॥

द्वितीया पतिता तस्यामृषभं चैव विन्यसेत् ।
एवं गान्धारग्रामेऽपि श्रुति-क्रम उदीरितः ॥ ८० ॥

°[इति गान्धारग्रामिकः स्वर मण्डल-प्रस्तारः।]

टी० :—(७६-८०) "ऊर्ध्वायतादि रेखाया गान्धारम्०"=ऊपर से प्रथम आडी रेखा के दाहिने अग्र पर गान्धार को लिखें, एव "ऊर्ध्वा रेखा चतुर्थी तस्या मध्यमम्"=आडी चतुर्थ रेखा के दाहिने अग्र पर (गान्धार से नीचे तृतीय रेखाग्र पर) मध्यम को लिखें। "पतिताया द्वितीयाया दक्षिणे धैवतम्"=बायें से द्वितीय खडी रेखा के निम्नाग्र पर धैवत को रखें, तथा, "पतिताया पञ्चम्या दक्षिणे (=दक्षिणाग्रे) पञ्चमम्०"=बायें से पाँचवी खडी रेखा के निम्नाग्र पर पञ्चम स्वर का नाम लिखें। "गान्धार मध्यमाविद्ध०"= गान्धारेण आविद्धा या रेखा तस्या पुच्छे, पुच्छ वामाग्र, तस्मिस्तथा चेत्यर्थ। अर्थात् गान्धारयुक्त रेखा के बायें अग्र पर षड्ज एव "मध्यमाविद्धरेखा-पुच्छे निषादम्"=मध्यमयुक्त रेखा के बायें अग्र पर निषाद का नाम लिखें। "द्वितीया पतिता तस्याम् ऋषभम्०" =बाईं ओर से द्वितीय खडी रेखा (धैवतयुक्त) के ऊपरी नोक पर ऋषभ को लिखें। नान्यदेव के कथनानुसार गान्धारग्रामिक श्रुति स्वर चक्र इस प्रकार होगा —

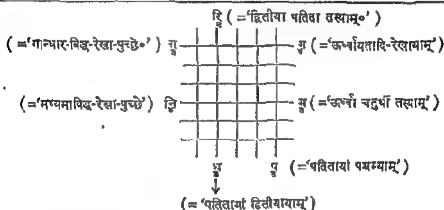
M : १ ऊर्ध्वयोगादि २ ऊर्ध्वाया ३ पञ्चमी ४ रेखा ५ पञ्चम ६ पञ्चम ७ धैवत ८ निषाद् ९ षड्जं १० चा च ११ सूत्र

५ अथ श्रुति-भेदादि-प्रकरणं पञ्चमम्

प्रतिग्रामं मूर्च्छनादि-भेदास्तान-विधिं तथा ।
तानानामपि संख्यानं वक्ष्यामोऽनुक्रमात् (पुनः) ॥ ८१ ॥

अथ श्रुतयः ।

"श्रुतिः श्रूयेत" इत्येवं ध्वनिर्रेषोऽभिधीयते ।
शृणोतेः कर्म-विहिते प्रत्यये क्तिनि जायते ॥ ८२ ॥



टी० :—(८२) i. 'श्रुति' संज्ञा की यह निरुक्ति मतंगोक्त है ।
मतंग-वचन इस प्रकार है:—

'श्रु श्रवणे चास्य धातोः क्ति-प्रत्यय-समुद्भवः ॥ २६ ॥
श्रुति-शब्दः प्रसाध्योऽयं शब्दज्ञैर्भाव-साधनः ॥'
"श्रूयन्त इति श्रुतयः ।" (बृ० दे० पृ० ४)

(सिं० के इस उद्धरण में 'भाव-साधनः' का पाठ 'कर्म-साधनः' है ।)

ii. मतंगकृत इस निरुक्ति के आधार विश्वावसु तथा दत्तिल होंगे । विश्वावसु का श्लोक मतंग ने उद्धृत किया है:—

'श्रवणेन्द्रिय-ग्राह्यत्वाद् ध्वनिरेव श्रुतिर्भवेत् ।' इ० (बृ० दे० पृ० ४)

iii. दत्तिलोक्त निरुक्ति निम्नानुसार है:—

'इति ध्वनि-विशेषास्ते श्रवणाच्छ्रुति-संज्ञिताः ॥ ९ ॥'

iv. विश्वावसु का निर्देश नारद ने किया है, जिससे मानना पड़ेगा कि वह नारद-भरत-पूर्व का ग्रन्थकार है:—

F: (८२) D. ८-१०; M. २६-२७; B. ११।१८-९

M: १-अ-२ रेमापो

'तुम्बरु-नारद-वसिष्ठ-विश्वावस्वादयश्च गन्धर्वाः ।
सामसु निभृतं करणं स्वर-सौक्ष्म्याच्चेपि हि न कुर्युः ॥२।६।११॥'

v. इसी प्रकार की व्युत्पत्ति रत्नाकर ने भी कही है :—

"श्रवणात् श्रुतयो मताः।" १।३।८

vi. यदि श्रुति तथा स्वर इन दोनों में श्रवण-योग्यत्व का गुण है, तो इन दोनों में भिन्नत्व क्या हुआ ? इस का उत्तर कल्लिनाथ ने यह दिया है :— "श्रवणात्, श्रवणयोग्यत्वात् । श्रुतयः श्रूयन्त इति व्युत्पत्त्या । एतदुक्तं भवतिः— यद्यपि श्रवण-योग्यत्वमनुरणनात्मनः स्वर-तानादि-रूपेण दीर्घ-दीर्घस्यापि ध्वनेर्विद्यते, तथाऽप्यत्र मारुताघाहसनन्तरोत्पन्न-प्रथम-क्षण-वर्ति-श्रवण-मात्र-योग्य-ध्वनेरेव श्रुतित्वमिति ।" (१।३।८–९); तात्पर्य, प्रथमाघात-रूप क्षणिक ध्वनि का नाम 'श्रुति' है, उसके पश्चात् पैदा होनेवाली अनुरणनात्मक (गूँजनेवाली) दीर्घ ध्वनि स्वर कहलाती है, यही दोनों की भिन्नता है। स्वर की व्याख्या में रत्नाकर ने यह भेद स्पष्ट किया है :—"श्रुत्यनन्तर-भावी यः स्निग्धोऽनुरणनात्मकः । स्वतो रञ्जयति श्रोतृ-चित्तं स स्वर उच्यते ॥ १।३।२४ ॥"

'श्रुत्यनन्तर-भावी = श्रुतेश्चतुर्थ्यादेर्मारुताघाहत्युत्पन्न-प्रथम-ध्वनेरनन्तरं भाव्याविर्भवनशीलः, स्निग्धः = अरूक्षः सन्दूर-संश्राव्यः; अनुरणनात्मकोऽनुस्वान-रूपः, स्वतः = सहकारि-कारण-निरपेक्षं; श्रोतृचित्त रञ्जयति = अनुरक्तं करोति' (२४–२५, क०)। नान्यदेव ने 'स्वर' शब्द की निरुक्ति "स्वयम् आत्मानं रञ्जयति" यही कही है (२।६९); किन्तु मतंग ने स्वर शब्द की निरुक्ति अन्य प्रकार से दी है :—

"राजृदीप्तावस्य धातोः स्व-शब्द-पूर्वकस्य च ।
स्वयं हि राजते यस्मात्तस्मात्स्वर इति स्मृतः ॥"

यह मतंगोक्त निरुक्ति पतंजलि द्वारा कही हुई व्याकरणान्तर्गत है। मतंग ने कोहल के आधार पर दी हुई स्वर की व्याख्या अधिक अच्छी है :—

'ननु स्वर इति किम् ? उच्यते :— राग-जनको ध्वनिः स्वर इति ।
तथा चाह कोहलः—'ध्वनी रक्तः स्वरः स्मृतः ।' (पृ० १२)

रत्नाकर के उपरोक्त कथन के अनुसार श्रुतिरूप ध्वनि अनुरणनशून्य एवं अरंजक होना चाहिए। जैसा कि सिंहभूपाल ने स्पष्ट किया है:—

"प्रथम-तन्त्र्याघातायां यो ध्वनिरणुरणन-शून्य उत्पद्यते, स श्रुतिः ।
यस्तु ततोऽनन्तरमनुरणन-रूपः श्रूयते स स्वरः ।" (१।३।२४-२५)

किन्तु इन्हीं भरतादिक प्राचीन ग्रन्थकारों के कथन के अनुसार 'श्रुति' का अर्थ स्वरान्तरों के सूक्ष्म विभाग, ऐसा ही होता है; इस भावार्थ के अनुकूल रत्नाकर की उपरोक्त व्याख्या नहीं है। रत्नाकर के कथनानुसार ग्राह्य करना होगा कि षड्ज, ऋषभ आदि की स्वरावस्था के पूर्व चार तीन आदि जो अनुरणनहीन ध्वनि सुनाई देती हैं, वे ही श्रुतियाँ हैं।

vi. श्रुति तथा स्वर में परस्पर संबंध क्या था, इस विषय में प्राचीन ग्रन्थकारों के अनेक मत थे। 'तादात्म्य' 'विवर्तित्व' 'कार्यत्व' आदि पाँच प्रकार के मतों का निर्देश "तादात्म्यं च विवर्तित्वं, कार्यत्वं परिणामिता।" इत्यादि श्लो० ३१ में मतंग द्वारा किया गया है। एवं उनकी चर्चा भी की गयी है। "अत्र बहुधा विप्रतिपत्तिः" कह कर मतंग का उक्त विवेचन सिंहभूपाल ने भी उद्धृत किया है। प्राचीन विद्वानों के मतानुसार श्रुतियाँ स्वरों का कारण हैं, इस प्रकार का निर्णय मतंग ने कहा है:—

'परिणामोऽभिव्यक्तिस्तु न्याय्यः पक्षः सतां मतः ॥२५॥'

vii. श्रुतियाँ यदि स्वर का कारण है, तो श्रुतियों का भी कोई कारण होना चाहिए, इस प्रकार की एक शंका को लेकर मतंग ने चर्चा की है, एवं उसका समाधान किया है कि, श्रुति के भी विभाग ('अवयवाः'= 'मात्रकाः') किये जा सके तो फिर ऐसी श्रुतियों की रक्षा हो नहीं सकती।

"किञ्च प्रमाणगम्यत्वे सगेऽपि यदि मात्रकाः।
निह्नोतव्यास्तदा रक्षा श्रुतीनामपि दुर्लभा ॥ ५२ ॥"

तात्पर्य, प्रत्यक्ष ज्ञान से एवं अनुमानादि प्रमाणों से सिद्ध होता है कि स्वरों की उत्पत्ति का कारण श्रुतियाँ ही हैं, परंतु श्रुतियों का कोई कारण हो नहीं सकता:—

"अर्थापत्त्यानुमानेन प्रत्यक्ष-ज्ञानतोऽपि वा।
गृह्यन्ते श्रुतयस्तावत् स्वराभिव्यक्ति-हेतवः ॥ ५३ ॥
त्रिनैव कारणं तास्ताः स्वराणां कारणं यदि।
भवेयुः श्रुतयस्तासामादिर्नेष्येत कारणम् ॥ ५१ ॥"

viii. एक सप्तक में श्रुतियाँ २२ होने का सिद्धान्त भरतमुनि ने कहा था, अतः उनके पश्चात् के ग्रंथकारो ने भी श्रुतिसंख्या २२ ही मान ली। वास्तव में देखा जाय, तो श्रुतियों की संख्या २२ से भी बढा जा सकती है। तथा श्रुतियो के और भी सूक्ष्म विभाग हो सकते हैं। प्राचीन शास्त्रकारों को इस आपत्ति की अस्पष्ट कल्पना थी, जैसा निम्नलिखित शंकारूप मतंगोक्ति से प्रतीत होता है:—

"ननु श्रुतीनां द्वाविंशति-प्रकारता यत्तदप्यसङ्गतं, श्रुतीनां श्रुत्यवयवानां चानुप(-प-)लम्भात् । तदुक्तम् :—

कथं प्रतीतिश्च भवेदमुष्या
नादो नभोव्याकुलित-श्रुतित्वात् ।
भवेदलक्ष्यावयवः, श्रुतिस्तु
(तेनैव) नैवावयवी प्रतीता ॥ ४६ ॥"

तात्पर्य, श्रुति स्वयं सूक्ष्म-रूप होने से उसके अवयव याने घटक विभागों की अनुभूति की नही जा सकती, अतः वह विभाग-रहित-सी प्रतीत होती हुई भी वास्तव में विभाग-युक्त होती है । इस दृष्टि से ध्वनि के प्रति-सेकंड में होनेवाले कंपनों को 'श्रुति' के अवयव याने आत्यन्तिक विभाग कहे जा सकते हैं ।

viii. रत्नाकर ने एक सप्तकावकाश में 'निरन्तर' (=निकटतम) ध्वनि (='श्रुति') २२ कही हैं एवं यह संख्या मर्यादा की पराकाष्ठा कही है । वास्तव में ऐसी 'निरन्तर' ध्वनियों की संख्या २२ से कई गुनी अधिक हो सकती है, कारण कि श्रवणेन्द्रियग्राह्य सूक्ष्मान्तर ध्वनि एक सप्तकावकाश में लगभग ४०० तक होती हैं । वस्तुतः ऐसी सूक्ष्मान्तर ध्वनियों को या कंपनों को 'श्रुति'यों के अवयव या श्रुति समझना चाहिए; किन्तु स्वर-कंपनादि जानने के लिए आवश्यक वैज्ञानिक साधन तथा स्वरविषयक गणित प्राचीन शास्त्रकारों को उपलब्ध नहीं होने से सप्तकावकाश के विभाग २२ से अधिक वे न कर सके ।

ix. ऋ० प्रा० में 'श्रुति' संज्ञा ध्वनि-श्रवण के अर्थ में प्रयुक्त हुई है । पाणिनि ने 'श्रुति' शब्द स्वर के सामान्य अर्थ में प्रयुक्त किया है (१।२।३३) । नारदीशिक्षा के श्लोक १।८।७ '...साधारणमिति श्रुतिः' एवं श्लोक २।३।३ '...स्वरेषु सप्तसु नीचानुचार्यते श्रुतिः' दोनों में 'श्रुति' संज्ञा वैदिक स्वर के अर्थ में प्रयुक्त हुई है । श्लोक १।६।१६ 'तद्वत् स्वरगता श्रुतिः' तथा १।७।९-१८ में दीप्ता, आयता इत्यादि श्रुति-जाति के अनुसंधान में प्रयुक्त श्रुति-संज्ञा सामिक स्वरोच्चार की क्रिया से संबद्ध है । गायन के दशविध गुण 'रक्तं, पूर्णम्, अलङ्कृतम्, प्रसन्नम्, व्यक्तम्, विक्रुष्टम्, श्लक्ष्णम्, समम्, सुकुमारम्, मधुरम् ।' (१।३।१-११) इत्यादि नारद ने कहे हैं, वहाँ 'पूर्ण' की व्याख्याः—'पूर्णं नाम :— स्वर-श्रुति-पूरणाच्छन्द-पादाक्षर-संयोगात्पूर्णमिति उच्यते' इस प्रकार की है । यहाँ 'श्रुति' शब्द ध्वनि के सामान्य अर्थ में प्रयुक्त हुआ है । श्लो० १।७।१८—'दीप्तामुदात्ते जानीयात्०' इत्यादि में सामन के स्वरों की श्रुतियाँ दीप्ता तथा मृदु ऐसे दो ही बताई हैं । तात्पर्य, स्वर के सूक्ष्म विभाग के अर्थ में

'श्रुति' शब्द नारद ने प्रयुक्त किया नहीं है, न उनकी २२ संख्या निर्दिष्ट की है। अनु० २ में नारद ने संगीत विषयो की जो सूचि दी है, उसमें स्वर, ग्राम, मूर्च्छना आदि का उल्लेख है, किन्तु 'श्रुति' का नामोल्लेख तक नहीं है:—

"तान-राग-स्वर-ग्राम-मूर्च्छनानां तु लक्षणम् ॥ २।२ ॥
........सप्त-स्वरास्त्रयो ग्रामा मूर्च्छनास्त्वेकविंशतिः ।
ताना एकोनपञ्चाशदितित्येतत्स्वर-मण्डलम् ॥ ४ ॥
षड्ज-मध्यम गान्धारास्त्रयो ग्रामाः प्रकीर्तिताः ॥ ६ ॥"

इस प्रकार तीन ग्राम नारद ने कहे हैं, किन्तु ग्राम-भेदक श्रुति-व्यवस्था का उल्लेख उसने नहीं किया है।

x. किन्तु मतंग ने विश्वावसु के श्लोक उद्धृत किये हैं, उनको देखने से अनुमान कर सकते हैं कि बाईस श्रुतियो की कल्पना नारद के पूर्व ही प्रचलित हुई होगी, यदि दोनों विश्वावसु एक ही व्यक्ति हो। स्वर-स्थानस्थ एवं स्वरान्तर-स्थ इस प्रकार विश्वावसु ने श्रुतियो के दो भेद माने हैं:—

'सा चैकापि द्विधा ज्ञेया स्वरान्तर-विभागतः ।
नियत-श्रुति-संस्थानाद् गीयन्ते सप्त गीतिषु ॥
तस्मात्स्वरगता ज्ञेयाः श्रुतयः श्रुति-वेदिभिः ॥
अन्तःश्रुति-विवर्तिन्यो ह्यन्तर-श्रुतयो मताः ।
एतासामपि चैश्वर्यं क्रिया-ग्राम-विभागतः ॥'
—बृ० दे० पृ० ४

विश्वावसु का कथन है कि:—

"(१) सप्त स्वर-स्थानों में सप्त श्रुतियाँ स्थित हैं, जो स्वर-गत श्रुति कहलाती हैं। ('शुद्ध-स्वररूपा, इत्यर्थः'—क०)

(२) दो स्वरों के मध्य में बची हुई श्रुतियाँ को अन्तःश्रुति कहते हैं। ('विकृत-स्वररूपा, इत्यर्थः।'—क०)

(३) एकग्रामान्तर्गत कतिपय अन्तःश्रुति अन्य ग्राम में स्वर बन जाती हैं, अर्थात् 'अन्तःश्रुति' में परिवर्तित होती हैं।" (कल्लिनाथ ने 'चैस्वर्य' पाठ दिया है।)

xi. प्राचीन ग्रन्थकारों में श्रुतिसंख्या के विषय में मतभिन्नता थी तथा अनेक मत प्रचलित थे। इनमें से दो मतों का निर्देश मतंग ने किया है:—

(अ) अनंतश्रुति :—१: इस विषय में नंदिकेश्वर का एक उद्धरण मतंग द्वारा प्रस्तुत किया गया है:—

'जाति-भाषादि-संयोगादनन्तः कीर्तितः स्वरः।' (पृ. १२)

यहाँ 'भाषा' शब्द से भाषारागों का निर्देश है।

२: अनन्त श्रुतियों का उल्लेख **कोहल** के एक श्लोक में उपलब्ध है। उक्त श्लोक भी मतंग ने उद्धृत किया है:—

'....केचिदासामानन्त्यमेव प्रतिपादयन्ति।' (पृ. ५); यह अनन्त-श्रुतिवाला मत भरतपूर्व के समय से ही प्रचलित था।

(इ) **एकश्रुति** :—इस मत के प्रतिपादक स्वयं मतगमुनि ही हैं। **मतंग** भरतमुनि के दृढ अनुयायी थे, किन्तु इस विषय में भरत से उनका मतभेद था और उन्होंने अपना मत धैर्य से प्रगट भी किया है, जो निम्नलिखित है: —

"श्रूयन्त इति श्रुतयः। सा चैकानेका वा। तत्रैकैव श्रुतिरिति। तद्यथा :— तत्रादौ तावदग्नि-संयोगात्पुरुष-प्रयत्न-प्रेरितो नाभेरूर्ध्वमाकाश-देशमाक्रमद्-धूलवत् सोपान-पद-क्रमेण पवनेच्छयाऽनेकधाऽऽरोहन्नन्तर्भूत-पूरण-प्रत्ययार्थतया चतुः-श्रुत्यादि-भेद-भिन्नः प्रतिभासत, इति मामकीन मतम्।" (पृ० ४)

(उ) भरतमुनि के बाईस श्रुतियो के मत का निर्देश मतंग ने कुछ व्यंग्यार्थक शब्दो से किया है :—

"तत्र केचिन्मीमांसा-मांसलितधियो धीरा द्वाविंशतिः श्रुतयो मन्यन्ते।" (पृ० ५)

(ऋ) **अनन्तश्रुति** परमाणुवत् सूक्ष्मतम अतएव श्रवण-गोचर नहीं होने से अनन्तश्रुति-पक्ष ग्राह्य नहीं हो सकता, इस प्रकार **कल्लिनाथ** ने खण्डन किया है :—

'अस्मिन्पक्षे रणनानुरणनात्मकयोः श्रुति-स्वरयोर्भेदाङ्गीकारेऽप्यनुरणन-रूपाणा-मपि ध्वनीनां श्रुतित्वमभिप्रायोभयेषामपि वीची-तरङ्ग-न्यायेनोत्पद्यमानानां तेषा-मतिसूक्ष्मभाग-कल्पनया प्रतिध्वन्यवयव-भूत-ध्वनि-बहुत्व-विवक्षयाऽऽनन्त्यं दर्शि-तम्। तदनुपपन्नमिति मन्तव्यम्। यद्यपि श्रवण-योग्यस्य ध्वनेरिन्द्रियग्राह्य-त्वाक्षिप्तेन सावयवत्वेन त्रसरेणुवदवयवाः सन्ति, तथाऽपि तेषां श्रोत्र-प्रत्यक्ष-मूलानुमानेनार्थापत्त्या वाऽन्यतरेणैव त्रसरेणु-गत-परमाणुवद् गम्यतया श्रोत्र-ग्राह्य-त्वाभावात्, स्वत स्वराभिव्यक्ति-हेतुत्वाभावेनाश्रुतित्वाद्, इति।' (१।३।१०–१६)

xii. **भरतादिओ** ने सप्तकावकाश के बाईस सूक्ष्म विभागों को बाईस श्रुतियाँ मानी हैं। एक सप्तकावकाश में ऐसी बाईस ध्वनि प्रथमतः गृहीत कर के तत्पश्चात् चतुर्थ ध्वनि पर षड्ज, तदनतर तृतीय ध्वनि पर ऋषभ इत्यादि के

अनुसार स्वर-स्थापना करने बाबत कहा है। वास्तव में देखा जाय तो स्वर-स्थापना की पद्धति स्वर-संवादों पर आधारित होनी चाहिए, जैसा कि पं० अहोबल ने कहा है। किन्तु अपने प्राचीन ग्रंथकार सर्वप्रथम श्रुतियाँ स्थापन कर लेनेके बाद तज्जन्य स्वर इन्हीं श्रुतियों से पैदा कर लेने बाबत कहते हैं। जो स्वरशास्त्र की दृष्टि से विपरीत क्रिया होगी। एतद्विषयक शास्त्रकारों के वचन निम्नोद्धृत हैं:—

A. "तत्र स्वराः,

षड्जश्च ऋषभश्चैव.......॥ २८।२२ ॥

चतुर्विधत्वमेतेषां विज्ञेयं **श्रुतियोगतः**।

वादी चैवाथ संवादी ह्यनुवादी विवाद्यपि ॥ २३।२३ ॥

तत्र यो यत्रांशः स तस्य वादी। ययोश्च नव-त्रयो-दशकं परस्परतः श्रुत्यन्तरे तावन्योन्यसंवादिनौ। यथा षड्ज-पञ्चमौ, ऋषभ-धैवतौ..॥२४॥

विवादिनस्तु ते येषां स्याद् विंशतिकमन्तरम्।

एवं वादि-संवादि-विवादिषु स्थापितेषु शेषा ह्यनुवादिनः संज्ञकाः॥ २५॥"

—भ० ना०

प्रस्तुत वचन में 'वादि-संवादी स्वरो की स्थापना' कही है, वह नव-त्रयो-दशादि श्रुत्यन्तरो के आधार से कही ही है। अर्थात् स्वरो के संवाद के कारण श्रुतियों की उत्पत्ति नहीं बतायी गयी है, किन्तु विशिष्ट श्रुतिसंख्याक अन्तरों को लेकर उनसे संवादी-विवादी स्वरो को पैदा करके बताया है। वेणु पर भी 'द्विक-त्रिक-चतुष्काः' स्वर 'श्रुतिसंख्या' द्वारा निकलते हैं, ऐसा कहा है (३०।२,४)।

B. इस विषय में दत्तिल का कथन अधिक स्पष्ट है:—

"............द्वाविंशति-विधो ध्वनिः ॥ ८ ॥

उत्तरोत्तर-तारस्तु, वीणायामधराधरः।

इति ध्वनि-विशेषास्ते श्रवणाच्छ्रुति-संज्ञिताः ॥ ९ ॥

तेभ्यः कांश्चिदुपादाय गीयन्ते सर्व-गीतिषु।

आद्रियन्ते च ये तेषु स्वरत्वमुपलभ्यते ॥ १० ॥

...षड्जत्वेन गृहीतो यः षड्जग्रामे ध्वनिर्भवेत्।

तत ऊर्ध्वं तृतीयः स्याद् ऋषभो नात्र संशयः ॥ ११ ॥

ततो द्वितीयो गान्धारश्चतुर्थो मध्यमस्ततः।" इत्यादि।

"दत्तिलो हि स्वेच्छया यस्यां कस्यामपि श्रुतौ षड्जं स्थापयेत्तदपेक्षया च श्रुति-

नियमेनान्यान्स्वरान्स्थापयेद्, इत्युक्तवान् । ...विवृतं चैतत्प्रयोगस्तबकाख्यायां दत्तिल-टीकायाम् :- 'षड्जत्वेन षड्ज-स्वर-भावेन गृहीतः परिकल्पितो बुद्ध्या व्यवस्थापितो यः कश्चिद् ध्वनि-विशेषः षड्जाख्ये ग्रामे भवेत्तस्माद् ध्वनि-विशेषादूर्ध्वं तृतीयः स्यादृषभः' इति ।" (सं० र० १।४।१५,१६ सिं०)

एक से एक ऊँची ऐसी २२ ध्वनि (एक सप्तकावकाश में) गृहीत की जाँय, तो उनमें चतुर्थ ध्वनि षड्ज, सप्तम ध्वनि ऋषभ, नवम गान्धार इत्यादि मान लेने से सप्तस्वरोद्भव होता है, इस प्रकार उपर्युक्त श्लोकों का तात्पर्य है।

C. श्रुतियों से ही स्वर पैदा होते हैं, ऐसा मतंग का भी कथन है:-
'गृह्यन्ते श्रुतयस्तावत् स्वराभिव्यक्ति-हेतवः ॥ ५३ ॥'

D. रत्नाकर ने स्वरोत्पादन को बतायी हुई योजना भी दत्तिल के अनुसार है। अर्थात् २२ ध्वनि में २२ तन्त्री लगाना, फलतः चतुर्थ, सप्तम इत्यादि तन्त्रीओं की ध्वनि क्रमशः षड्ज, ऋषभ इत्यादि हो जायंगे (१।३।१३-१७), इस प्रकार श्रुतियों से ही स्वरों की उत्पत्ति होती है, ऐसा रत्नाकर का कथन है :- 'श्रुतिभ्यः स्युः स्वराः षड्जर्षभ-गान्धार-मध्यमाः' इत्यादि (१।३।२३)। यद्यपि रत्नाकर ने 'षड्जश्चतुःश्रुतिः स्थाप्यस्तन्त्र्यां तुरीयायाम् ।' इत्यादि कहा है तथापि उसका आशय उपरोक्त के अनुसार ही है।

E. श्रुत्यन्तरों के विभिन्न प्रमाण (Ratios) निकालने के लिए श्रुतिपंडितों भरतोक्त सारणा-चतुष्टय का उपयोग करना पसंद करते हैं; कारण, रत्नाकरोक्त सारणा-चतुष्टय से उनका कोई लाभ नहीं होता। रत्नाकर ने सारणा भिन्न रीति से कही है, इससे श्रुतिपंडित रत्नाकर पे नाराज हैं। किन्तु दत्तिल का ग्रंथ देखने से ज्ञात होता है, कि यह रीति रत्नाकर की स्वयं नहीं है, अपितु दत्तिल पर ही आधारित है।

F. भरतोक्त सारणा-चतुष्टय में षड्जादि स्वरों की स्थापना की रीति नहीं बतायी है, पूर्वस्थित षड्जादि स्वरों को उतारने की क्रिया बतायी है।

G. यदि एक ध्वनि को बाईस बार उत्तरोत्तर ऊँची कर के सप्त-स्वरों को पैदा कर सकते हैं, तो उसी रीति से बाईस बार उतारकर उच्च स्वरों को नीच स्वरों में ला भी सकते हैं।

यह क्रिया प्रयोग की दृष्टि से प्रशंसनीय भले ही होगी, परंतु उससे सप्तक के संवाद-युक्त स्वरों का निर्माण नहीं हो सकता। ऐसी श्रुतियों द्वारा पैदा कराये हुए वे स्वर कृत्रिम (Tempered) ही होंगे। बाद में स्वर-संवाद द्वारा उनकी परीक्षा करके उन्हें ठीक कर सकते हैं; परंतु यदि स्वर-संवाद-ज्ञान को

दीप्ताऽऽयता च करुणा मृदु-मध्येति नामतः ।
पञ्चैव श्रुतयः प्रोक्ता, ज्ञेया ग्रामेषु नित्यशः ॥ ८३ ॥

तथा च नारदः,

"स्वभावेनैव दुर्लक्ष्या सा च स्वर-गता श्रुतिः ।
अवधानादुपायेन योगिनामेव लक्ष्यते ॥ ८४ ॥
यथा दधिनि सर्पिः स्यात्काष्ठस्थो वा यथाऽनलः ।
प्रयत्नेनोपलभ्येत तद्वत्स्वर-गता श्रुतिः ॥ ८५ ॥
यथाऽप्सु चरतां मार्गो मीनानां नोपलभ्यते ।
आकाशे वा विहङ्गानां तद्वत्स्वर-गता श्रुतिः ॥ ८६ ॥
दीप्ताऽऽयता-करुणानां मृदु-मध्यमयोस्तथा ।
श्रुतीनां योऽविशेषज्ञो न स आचार्य उच्यते ॥ ८७ ॥
दीप्ता मन्द्रे द्वितीये च प्रचतुर्थे तथैव च ।
अतिस्वारे तृतीये च[3] क्रुष्टे तु करुणा श्रुतिः ॥ ८८ ॥
श्रुतयोऽन्यास्तृतीयस्य मृदु-मध्याऽऽयताः स्मृताः" ॥ ८९ ॥

ही प्रामाणिक आधार मानना है, तो श्रुत्यन्तरों के आधार से स्वरों की स्थापना करने की आवश्यकता ही प्रतीत नहीं होगी। स्वर-स्थापना के लिए संवादों के ज्ञान की आवश्यकता प० अहोबल ने ठीक ही बतायी है :—

'स्वर-संवादिता-ज्ञानं स्वर-स्थापन-कारणम् ॥ २२६ ॥'

स्वर-स्थापना के लिए स्वर-संवाद की आवश्यकता समझनेवाला तथा इस तत्त्व पर बल देकर प्रतिपादन करनेवाला ग्रन्थकार अहोबल के अतिरिक्त दूसरा कोई नहीं है। [उपरोक्त B उद्धृत में सिंहभूपाल के वक्तव्य में दत्तिल की टीका 'प्रयोगस्तबक' का निर्देश आया है; यह टीकाग्रंथ उपलब्ध नहीं है।]

टी०:—(८३–८९) i. श्लो० ८४ संभवतः ना० शि० का होगा, किन्तु Bn. और G. संस्करण में उपलब्ध नहीं है।

ii. (८९) N. pb. 'द्वितीयस्य' है।

दीप्तादि श्रुतिजातियों को मन्द्रादि स्वरों में वितरण करने की रीति नान्यदेव द्वारा निम्नलिखित श्लोकों में कथन की गयी है:—

M: १-या २ नीचे ३ का- ४ मध्यमायाः
F: (८५-८९) ३.१।६।१६,१७, १।७।९-११

अनेन च निषाद्-गान्धार-मध्यम-षड्जेषु दीप्ता, धैवतर्षभ-पञ्चमेषु करुणा ॥ ९० ॥ अन्याश्च मृदु-मध्याऽऽयता एतेष्वेव द्वितीयादिषु यथायथमवगन्तव्याः ॥ ९१ ॥ पञ्चैताः कला-काल-प्रमाणेन विभेदिता द्वाविंशतिरिति व्याख्याताः ॥ ९२ ॥

स०:– (९०) इस वाक्य के पूर्व (१) 'अथ मन्द्र-द्वितीय-प्रथम०' आदि एक; तथा (२) 'यः सामगानां प्रथमः०', एवं (३) 'चतुर्थः षड्ज इत्याहुः०' यह दो श्लोक आये हुए हैं, जिन्हें हमने शिक्षाध्याय (द्वितीय) में पहले ही उद्धृत किये हैं।

टी०:– (९०–९२) i नान्यदेव की बतायी हुई दीप्तादि श्रुतियों की व्यवस्था निम्नानुसार होगी:–

दीप्ता,	दीप्ता,	दीप्ता,	दीप्ता,	
मन्द्र,	द्वितीय,	प्रथम,	चतुर्थ	('प्रचतुर्थ'=प्रथम+चतुर्थ)
निषाद,	गान्धार,	मध्यम,	षड्ज	

करुणा,	करुणा,	करुणा,
धैवत,	ऋषभ,	पञ्चम,
अतिस्वार,	तृतीय,	क्रुष्ट

नान्यदेव के कथनानुसार स-ग-म-नि की प्रथम श्रुति दीप्ता जाति की है, रे-ध की प्रथम श्रुति की जाति करुणा है तथा पंचम की अन्तिम श्रुति 'करुणा' जाति की है।

ii. नान्यदेव ने 'दीप्ता' शब्द का अनुबंध 'प्रचतुर्थ' तक ही लगाया है तथा 'प्रचतुर्थ' का अर्थ 'प्रथम और चतुर्थ' ऐसा किया है। किन्तु ना० शि० के टीकाकार ने 'दीप्ता' शब्द 'तृतीय' तक सम्बन्धित किया है, एवं 'करुणा' शब्द केवल एकमात्र क्रुष्ट के लिए प्रयुक्त किया है; अपितु नान्यदेव ने 'करुणा' शब्द को अतिस्वार, तृतीय एवं क्रुष्ट इन तीनों से संबंधित माना है। 'क्रुष्टे तु करुणा श्रुतिः।' इस वाक्यांश में 'तु' शब्द 'करुणा' का अनुबंध क्रुष्ट तक ही सीमित करता है। इस दृष्टि से ना० शि० के टीकाकार द्वारा किया गया अर्थ ही समंजस प्रतीत होता है। किन्तु सामवैदिक-'प्रथम' आदि स्वरों को संगीत के मध्यम आदि मानने में इस अर्थ से बाधा आती है; संभवतः इसी कारण से

नान्यदेव ने 'करुणा' शब्द का अनुबंध पूर्ववर्ती 'अतिस्वार' शब्द तक बढाकर वाक्यार्थ सांगीतिक स्वर-श्रुति-व्यवस्था को अनुकूल करा लिया होगा, ऐसा प्रतीत होता है ।

iii. 'दीप्ता मन्द्रे द्वितीये च ०' इत्यादि नारदोक्त श्लोकों का अर्थ **ना०शि०** के टीकाकार **शोभाकर** ने भिन्न प्रकार से कहा है, जिसका सारांश निम्न-निर्दिष्ट है :—

(१) 'पञ्चानां स्वराणां ०' इत्यादि ।

अर्थः—मन्द्र, द्वितीय, तृतीय, चतुर्थ तथा अतिस्वार्य इन स्वरों की श्रुति-जाति 'दीप्ता' होती है ।

(२) 'द्वितीय-स्वरस्य........उच्यते ।'

अर्थः—'द्वितीय' स्वर की अन्य तीन श्रुतियाँ उपाधिवशात् 'मृदु', 'मध्या' एवं 'आयता' कही है । (यहाँ 'द्वितीय' की संपूर्ण श्रुति-सख्या चार होती है, ऐसा कहा है । गान्धार की श्रुति-संख्या दो ही होने से 'गान्धार' को 'द्वितीय' मानने में इससे बाधा आती है ।)

"आयतत्वं वदेन्नीचे मृदुत्वं तु विपर्यये ।
स्वे स्वरे मध्यमत्वं तु तत्समीक्ष्य प्रयोजयेत् ॥" **ना०शि०** १।७।१२ ॥

टीकाः— (१) 'नीचे तृतीय ०' इत्यादि ।

अर्थः—'तृतीय' स्वर परवर्ती हो, तो 'द्वितीय' स्वर की श्रुति 'आयता' होती है, किन्तु विपर्यय से अर्थात् 'चतुर्थ' स्वर परवर्ती होने पर 'द्वितीय' स्वर की श्रुति 'मृदु' हो जाती है । यदि 'द्वितीय' स्वर स्वस्थान पर हो, तो उसकी श्रुति 'मध्या' होती है । तात्पर्य यह कि, 'द्वितीय' स्वर की स्थिति का ध्यान रख कर साम-गायन में इन श्रुतियो का प्रयोग करना चाहिए ।

(२) 'द्वितीये दीप्ता०' इत्यादि ।

अर्थः— 'द्वितीय' स्वर की श्रुति 'दीप्ता' के प्रयोग के विषय में नियम कहते हैं:—

"द्वितीये विरता या तु क्रुष्टश्च परतो भवेत् ।
दीप्तां तां तु विजानीयात्प्रथमेन मृदु स्मृता ॥ १३ ॥
अत्रैव विरता या तु चतुर्थेन प्रवर्तते ।
तथा मन्द्रे भवेद् दीप्ता साधयेव समापने" ॥ **ना० शि०** १।७।१४ ॥

टीकाः—(१) 'द्वितीये विरता०' इत्यादि; 'क्रुष्टे परभूते......' इत्यादि ।

अर्थः— परवर्ती स्वर यदि 'क्रुष्ट' हो, तो 'द्वितीय' स्वर की बची हुई श्रुति 'दीप्ता' कहलाती है।

(२) 'अत्रैव विरता' अर्थात् प्रथम स्वर की श्रुति स्वस्थानस्थ हो, तो वह 'मृदु' होती है। उदाहरणः— 'ई ऊ' इ०।

(३) 'प्रथमे.......अवस्थिता।'

अर्थः— श्रुति चतुर्थ स्वर में अवस्थित हो, तो 'मृदु' होती है; अन्यथा स्वरान्तर-गमन होने पर 'दीप्ता' हो जाती है।

(४) उदाहरणार्थः—'उमा इ० मन्द्रे दीप्ता भवति।'

अर्थः—'मन्द्र' स्वर की श्रुति दीप्ता होती है। स्वरान्तर-गमन हो, तो तथा साम के अन्त में प्रत्येक स्वर की श्रुति दीप्ता होती है। उदाहरणः—'औ हो' इत्यादि। यहां स्थानस्थ दीप्ता श्रुति का निषेध किया है।

"स्वरान्तराविरतानि ह्रस्व-दीर्घ-प्लुतानि च।
श्रुति-स्थानेष्वशेषाणि श्रुतिवत्स्वरतो भवेत्॥ १७॥
दीप्तामुदात्ते जानीयाद् दीप्तां च स्वरिते विदुः।
अनुदात्ते मृदुर्ज्ञेया गान्धर्व-श्रुति-सम्पदः"॥ ना० शि० १।७।१८॥

टीकाः—(१) 'श्रुतिर्न कार्या, स्वर एव श्रुति-सदृशः कार्य इति।'

अर्थः—'स्वरान्तराविरतानि' इत्यादि श्लोक द्वारा ह्रस्वदीर्घादि वर्णों में श्रुति नहीं लेने बाबत कहा है। ऐसे स्थान पर श्रुति के समान स्वर ही लेना चाहिए।

(२) "साम-व्यतिरिक्तेषु श्रुति-द्वयमेव वर्तते, इत्याह—'दीप्तामुदात्ते जानीयात्०।' गान्धर्वे गाने श्रुतेरभावेऽपि तत्सदृशः स्वरः कार्यः। 'स्वर-सम्पदः।' एतावद् गानादि-विषये उदात्तादयस्त्रयः केनचिद् विशेषेण पञ्चत्वेनोच्यते॥ १८॥"

अर्थः—उदात्त स्वर की श्रुति 'दीप्ता' एवं अनुदात्त की 'मृदु' होती है। साम-गान से भिन्न अन्य गायन में श्रुतियों का अभाव होता है, वहाँ दीप्ता एवं मृदु श्रुतियों के समान उदात्तादि तीन स्वर विशेष अवस्था में पाँच तक माने गये हैं।

iv नारद द्वारा कही हुई उपर्युक्त सामिक श्रुतियों की योजना देखने से प्रतीत होता है, कि—

(१) सामिक दीप्तादि श्रुतियों के प्रयोग का संबध प्रथमादि स्वरों के क्रम तथा स्वर-संधि के साथ था।

(२) साम-गायन में निर्दिष्ट स्वरोच्चार-रूप दीप्तादि पाँच श्रुतियो का ही प्रयोग अभीष्ट था, अतः श्रुतियो की संख्या पाँच ही थी।

(३) सामयुग के पश्चात् संगीतशास्त्रकारों ने सामिक श्रुतियों को श्रुति-जाति में परिवर्तित किया एवं उन्हें षड्जादि सप्तस्वरों में चार, तीन इत्यादि संख्या द्वारा वितरित किया ।

(४) सामिक पाँच श्रुतियों की संख्या संगीतशास्त्रकारों ने बाईस करा ली ।

(५) साम-गायन में प्रयोज्य श्रुति विशिष्ट स्वरोच्चार के रूप में थी; संगीतशास्त्रकारों ने उन्हीं श्रुतियों को सूक्ष्म स्वरान्तरविभाग के रूप में परिवर्तित करा लीं ।

संगीतशास्त्रान्तर्गत 'श्रुति' के विकास का इतिहास इन्हीं तथ्यों पर आधारित है ।

['आयतत्वं तु चेन्नीचे' इत्यादि श्लोक नारदी शिक्षा का है एवं साम-गान से संबंधित है, यह बात ज्ञात नहीं होने से, इस श्लोक का अर्थ कतिपय विद्वानों ने विपर्यस्त किया है । एक पंडितमहोदय ने लिखा है:—

"मेरु से नीचे की ओर जितना जायंगे, स्वरों में उतनी ही उच्चता आती जायेगी । दारवी वीणा की इसी स्थिति को समक्ष रखते हुए नाट्यशास्त्र मे कहा गया है:—'आयतत्व तु चेन्नीचे'० अर्थात् "नीचे की स्थिति में श्रुति का आयतत्व होता है" इत्यादि ।

वास्तव में देखा जाय तो, 'आयतत्वं तु चेन्नीचे०' इत्यादि नाट्यशास्त्र में आया हुआ श्लोक प्रक्षिप्त होना चाहिए, क्यों कि यह श्लोक अलंकार-विषय में बीच में अचानक आया है, अर्थात् पूर्वापर-संबद्ध नहीं है । तदुपरान्त 'आयता, मृदु' इत्यादि श्रुति-जातियों का निर्देश तक नाट्यशास्त्र में कहीं भी उपलब्ध नहीं है ।

'मार्दव' तथा 'आयतत्व' संज्ञाएँ ना० शा० में श्रुतिनिदर्शन—प्रकरण में (१८।२६) आयी हैं तथा 'मार्दव' और 'उत्कर्ष' शब्द द्विविधैक-मूर्च्छना-सिद्धि-प्रकरण में उपलब्ध हैं (२८।२७) । 'शैथिल्य' तथा 'आयत' संज्ञाएँ पखवाज-वादन के प्रकरण में आयी हैं:—

'शैथिल्यादायतत्वाच्च स्वरे गाम्भीर्यमिष्यते' ॥ ३४।२६ ॥

'शैथिल्यादायतत्वाच्च चर्मस्फोटनपाऽपि च ।
स्वराणां सम्भवः कार्यो मार्जनासु प्रयोक्तृभिः' ॥ ११२ ॥

'मार्जना' अर्थात् पखवाज आदि चर्मवाद्य विशिष्ट स्वरों में लगाना । 'मार्दव' का पर्याय 'शैथिल्य' इन श्लोकों में प्रयुक्त हुआ है । श्रुति-निदर्शन एवं द्विविधैक-मूर्च्छना-सिद्धि के प्रकरण में प्रयुक्त 'अपकर्ष' तथा 'उत्कर्ष'

कथ्यन्ते नामतः ।
तीव्रा कुमुद्वती मन्दा छन्दोवत्यपरा स्मृता ।
तथा दयावती प्रोक्ता रञ्जनी रंतिका तथा ॥ ९३ ॥
रौद्री क्रोधा तथा वज्री, ततश्चैव प्रसारिणी ।
प्रीतिश्च मार्जनी चैव क्षिती रक्ता ततः पुनः ॥ ९४ ॥
तथा सन्दीपनी प्रोक्ता तथैवाऽऽलापिनीति च ।
मदन्ती रोहिणी रम्या तथोग्रा क्षोभिणी ह्यपि ॥ ९५ ॥
षड्जादिषु क्रमादेता यावत्यो यत्र संश्रिताः ।
श्रुतयः सम्यगधुना तदत्र परिकीर्त्यते ॥ ९६ ॥
स्मृतौ निषादगान्धारौ द्विश्रुती श्रुतिवेदिभिः ।
ऋषभो धैवतश्चैव त्रिश्रुती परिकीर्तितौ ॥ ९७ ॥
ते चतुःश्रुतिकाः प्रोक्ताः षड्जमध्यम-पञ्चमाः ।
दीप्ताऽऽयता मृदुर्मध्या षड्जे श्रुतिचतुष्टयम् ॥ ९८ ॥
करुणा मध्या मृदुश्चेति तिस्रस्तु ऋषभे मताः ।
दीप्ताऽऽयता च गान्धारे मध्यमाख्ये स्वरे पुनः ॥ ९९ ॥
दीप्ताऽऽयता मृदुर्मध्या चतस्रः श्रुतयो मताः ।
मृदु-मध्याऽऽयताख्याश्च पञ्चमे करुणा तथा ॥ १०० ॥
करुणाऽऽयता च मध्या च धैवतेऽपि श्रुतित्रयम् ।
दीप्ता मध्या निषादेऽपि षड्जग्रामे श्रुतिक्रमः ॥ १०१ ॥

शब्द 'मार्दव' तथा 'आयतत्व' के पर्यायरूप स्पष्ट हैं। भरतकालीन वीणाएँ हार्प-सदृश थी, अत इस वीणाओं के एव पखवाज के स्वरों को उतार-चढाने की क्रिया एकसमान थी और इस प्रकार के उतार-चढाव के लिए भरतमुनि ने 'मार्दव' और 'आयतत्व' शब्दों का प्रयोग किया है।]

M १ रतिका २ दयावती

F (९५-१०१) R १।३।२७-३१

चतुर्धा नाम दीप्तायास्तीव्रा रौद्री च वज्रिका ।
उग्रा भेदाश्च विज्ञेया नाना-स्वर-प्रभेदतः ॥ १०२ ॥
कुमुद्वती च क्रोधा च तृतीया तु प्रसारिणी ।
सन्दीपनी रोहिणी चेत्यायता पञ्चधा स्मृता ॥ १०३ ॥
दयावती तथाऽऽलापिन्यभिधा च मदन्तिका ।
करुणा -[2]- त्रिविधा ज्ञेया स्वर-त्रय-समाश्रया ॥ १०४ ॥
मृद्वी चतुर्धा विज्ञेया मन्दाख्या रैतिका[3] तथा ।
प्रीतिः क्षितिरिति प्रायश्चतुःस्वर-समाश्रया ॥ १०५ ॥

टीकाः— (१०२–११३) १. समश्रुतिक सवादी स्वरो की श्रुतिजाति की तुलना करने पर वस्तुस्थिति दृष्टिगोचर हो सकती है —

१ २ ३ ४
× × × ×
| | | |
दी० आ० मृ० मध्या } = ष०] [
| | | |
दी० आ० मृ० मध्या } = म०] [
| | | |
मृ० म० आ० करुणा } = प०]

१ २ ३
× × ×
| | |
क० म० मृद्वी } = ऋ०
| | |
क० आ० मध्या } = धै०

१ २
× ×
| |
दी० आयता } = गा०
| |
दी० मध्या } = नि०

उपर्युक्त तालिका पर दृष्टिपात करने से विदित होगा, कि षड्ज एव मध्यम की श्रुतिजातियाँ तथा उनका क्रम दोनो ही समान है, परतु अन्य समश्रुतिक स्वरो की श्रुतिजातियॉ समान नहीं हैं । साराश, स्वरो की स्वस्थानस्थ स्थिति, कोमल-तीव्रत्व या 'तर-तीव्रा' दि सूक्ष्मविकृतियो का सबध अथवा कार्यकारणभाव स्वरों की तत्तत् श्रुतिजाति से लगाना असभव है । षड्ज, मध्यम, धैवत एव निषाद 'मध्या' श्रुतिजाति पर स्थित है; किन्तु ऋषभ 'मृद्वी' पर, गान्धार 'आयता' पर तथा पचम 'करुणा' पर स्थित है । ऋषभ एव धैवत की प्रथम श्रुति की जाति करुणा है । तात्पर्य स्वरस्थ श्रुतियो की जाति-व्यवस्था में कुछ हेतुपूर्ण योजना थी, ऐसा प्रतीत नहीं होता ।

M: १ मापिन्याभिध २ वक्र ३ रक्तिका

मध्याऽपि षड्विधा छन्दोवत्याख्या रञ्जनी तथा ।
मार्जनी चैव रक्ता च रम्या च क्षोभिणीत्यपि ॥ १०६ ॥
षड्जे तीव्रा च दीप्तायाः आयतायाः कुमुद्वती ।
मृदोर्मन्दा तु मध्यायाः स्मृता छन्दोवतीति च ॥ १०७ ॥

ii. श्रुतियों के नाम तथा जातियाँ नान्यभूपाल के ग्रन्थ में ही सर्वप्रथम पायी जाती हैं ।

iii. श्रुतियों के 'कुमुद्वती', 'वज्रिका', 'प्रसारिणी', 'क्षिति' इत्यादि नाम स्पष्टतः काल्पनिक हैं ।

iv. 'श्रुति' शब्द प्रचलित संगीत में अतिकोमलादि स्वरविशेष के अर्थ में प्रसिद्ध है । भरत, मतंग तथा रत्नाकर के ग्रन्थों में 'श्रुति' शब्द इस अर्थ में प्रयुक्त नहीं हुआ है ।

v. 'श्रुति' का यह विशिष्ट अर्थ रत्नाकर-पश्चात् उसके टीकाकारों के लिखने से प्रचलित हुआ हो, ऐसा प्रतीत होता है । इस अर्थ का संकेत सर्वप्रथम **सिंहभूपाल** की टीका में पाया जाता है:—

'ननु किं श्रुति-जाति-निरूपणेन प्रयोजनम्? उच्यते— तत्तज्जातिकां श्रुतिं श्रुत्वा मनसो नामसाम्येन तथा तथा विकार उत्पद्यत इति सूचयितुं श्रुति-जाति-निरूपणम् । ततश्च 'दीप्ता' श्रुतिमाकर्ण्य मनसो दीप्तत्वमिव भवति; 'आयता' श्रुतिमाकर्ण्याऽऽयतत्वमिव । एवं करुणत्वादि ज्ञातव्यम् ॥'

(सं० र० १।३।२५-२८ सिं०)

इसी कथन का अनुवाद **कल्लिनाथ** ने किया है:—

"श्रुतीनामन्योऽन्यमसंकीर्णतया स्वरूप-परिज्ञानाय क्वचित्तासां साजात्येन *संज्ञया रक्तिलाभाय चयान्तर-भेद-सहिताना स्वरेषु व्यवस्थानं दर्शयति—* 'दीप्ताऽऽयता' इत्यादिना ।"

कल्लिनाथ के उपरोक्त प्रतिपादन में उसने 'क्वचित्' शब्द प्रयुक्त किया है, उससे प्रतीत होता है कि श्रुतियों के जाति-नामों के विषय में वह निःशंक तो नहीं था ।

प्रचलित तर-तीव्रादि स्वरों की कल्पना सिंहभूपाल के निम्नोद्धृत वचन से पैदा हुई होंगी, ऐसा अनुमान लगा सकते हैं:—

"......तत्र मन्द-तीव्र-तीव्रतरादि-तारतम्याख्य-विरुद्ध-धर्म-संसर्गस्य विद्यमानत्वाद् भेदस्तावत्सिद्धः ।" (१।३। ९-८)

M: १ षाड्ज २ म्योपनया

F: (१०३-१०६) B: १।३।३१-३५

करुणा-मध्या-मूर्द्धीनामृषभेऽपि यथाक्रमम् ।
दयावती रञ्जनी च नाम स्याद् रतिकाऽपि च ॥ १०८ ॥
गान्धारेऽपि च दीताया, आयताया अपि क्रमात् ।
रौद्री, क्रोधा च नामेति द्वितयं समुदीरितम् ॥ १०९ ॥

किन्तु रत्नाकर जैसे मर्मज्ञ ग्रंथकार ने इस विषय की ओर किंचित् भी इङ्गित नहीं किया, यह बात विचारणीय है ।

vi. प० अहोवल ने श्रुतियो के संबध में कुछ नवीन कल्पनाएँ प्रस्तुत की हैं, उनका आधार भी प्रचलित श्रुतिवाद निर्माण होने में सहायभूत हुआ होगा । प० अहोवल का कथन निम्नानुसार है.—

"श्रुतय. स्यु स्वराभिन्ना. श्रावणत्वेन हेतुना ।
अहि कुण्डलवत्तत्र भेदोक्ति शास्त्र-सम्मता ॥ ३८ ॥
सर्वाश्च श्रुतयस्तत्तद् रागेषु स्वरता गताः ।
रागहेतुत्व एतासां श्रुति-संज्ञैव सम्मता ॥ ३९ ॥
केशाग्र व्यवधानेन बह्वयोऽपि श्रुतय. स्थिताः ।
वीणायाञ्च तथा गात्रे संगीत-ज्ञानिना मते ॥ ४० ॥
मध्ये पूर्वोत्तराबद्ध-वीणायां गात्र एव च ।
षड्ज-पञ्चम-भावेन श्रुतीर्द्वाविंशतिं जगुः ॥ ४१ ॥
. . तासां नामानि वक्ष्येऽहं नारदीयानुसारतः ॥ ४२ ॥
स्वर-स्थाने क्रिया-भेदाद् वैचित्र्य जायते बहु ।
जाति-भेद-समव्याप्य यत्तज्ज्ञेय मनीषिभि॰ ॥ ४३ ॥
इक्षु-क्षीर-गत यद्वन्माधुर्यं नोच्यते बुधैः ।
तद्वत् श्रुतिगता जातिर्वाचा को वा वदिष्यति ? ॥ ६० ॥
श्रोत्र-प्रत्यक्ष-सिद्धास्ता भिन्न-श्रुति-समाश्रिताः ।
तद्वच्छ्रुति गता जातिरन्वर्थ-नामका भवेत् ॥ ६१ ॥
. . श्रुत्यन-तरमुत्पन्ना॰ स्निग्धानुरणनात्मकाः ॥ ६२ ॥
रञ्जयन्ति स्वतः स्वान्त श्रोतॄणामिति ते स्वरा ॥"

प० अहोवल के प्रतिपादन का सारांश निम्ननिर्दिष्ट है:—

"(१) श्रुतियाँ स्वरों से अभिन्न हैं ।

(२) प्रत्येक श्रुति किसी न किसी राग में स्वर बन जाती है । श्रुतियाँ रागोत्पत्ति का कारण हैं ।

(३) केशाग्र जैसे सूक्ष्म अन्तर पर श्रुतियाँ असंख्य होती हैं ।

M: १ सुधी– २ रञ्जिका ३ रतिका

मध्यमे च क्रमाद्दीताऽऽयतयोर्मृदु-मध्ययोः ।
वज्रिकाऽथ प्रसारिणी प्रीतिर्मार्जनिकेति च ॥ ११० ॥
मृदु-मध्याऽऽयताख्यानां करुणायाश्च पञ्चमे ।
क्षितिरक्ते तथा सन्दीपनी चालापिनी तथा ॥ १११ ॥

---

(४) षड्ज-पञ्चम-भाव द्वारा २२ श्रुतियाँ होती हैं। जिनके नाम नारद के मत से दे रहे हैं।

(५) क्रिया-भेद के कारण स्वर-स्थानों में वैचित्र्य पैदा होता है; श्रुतियों की दीप्तादि जातियाँ निर्माण होने में यही वैचित्र्य कारणीभूत है। उसी प्रकार श्रुति-गत जातियों का वर्णन करना भी असम्भव है, जिस प्रकार ईख और दूध के माधुर्य का भिन्नत्व कथन करना अशक्य है।, किन्तु श्रुतियों की दीप्तादि जातियाँ श्रवण-प्रत्यक्ष हैं एवं अपने नाम के अनुसार भाव निर्माण करती हैं।

(६) स्वर अनुरणनात्मक और स्वयं रंजक होता है, जो श्रुति के पश्चात् उत्पन्न होता है।"

पं० अहोबल का उपर्युक्त प्रतिपादन बहुत ही सुंदर है। उसमें हमारे गायक-वादकों की विचारप्रणाली का प्रतिबिंब निहित है। पं० अहोबलोक्त श्रुति-सिद्धान्त इसी कारण से आधुनिक जैसा प्रतीत होता है। पं० अहोबल की इस विचार-धारा ने प्रचलित श्रुतिसिद्धान्तों को जन्म दिया है, किन्तु सूक्ष्मावलोकन करने पर स्पष्ट होगा, कि पं० अहोबल के उपर्युक्त श्रुति-सिद्धान्तों की पुष्टि प्राचीन ग्रन्थकारों द्वारा किस हद तक होती है। अहोबल द्वारा उपर्युक्त दोनों सिद्धान्त महत्व के हैं, अतः इनका परीक्षण करना यहाँ आवश्यक है:—

उपरोक्त कं० (२) में प्रत्येक श्रुति रागों में स्वरत्व प्राप्त करती है, ऐसा कहा है; तथापि:—

(अ) भरतोक्त तथा रत्नाकरोक्त शुद्ध-विकृत स्वरों को सम्मिलित करने के बाद भी जो कतिपय श्रुतियाँ स्वरत्व-रहित ही रहती हैं, वे निम्ननिर्दिष्ट हैं:—

नि,	कै. नि,	का. नि,	च्यु. स,	स,	०,	०,	रि,	०,	ग,
	१,	२,	३,	४	५	६	७	८	९
ग,	साधा. ग,	अं. ग,	च्यु. म,	म,	०,	०,	च्यु. प,	प,	
	१०,	११,	१२,	१३,	१४,	१५,	१६,	१७	
				प,	०,	०,	ध,	०,	नि
				१७,	१८,	१९,	२०,	२१,	२२,

धैवते करुणाऽऽयता-मध्यानां च यथाक्रमम् ।
मृदुक्ता रोहिणी रम्या त्रीणि नामानि यानि ते ॥ ११२ ॥
निषादे च तथा दीप्ता-मध्या-श्रुत्योरनुक्रमात् ।
उग्रा च क्षोभिणी चैव नामद्वितयमीरितम् ॥ ११३ ॥

इस कोष्ठक को देखने से विदित होगा कि षड्ज से परवर्ती दो श्रुतियाँ, ऋषभ परवर्ती एक श्रुति, मध्यम और पचम की आगे की दो दो श्रुतियाँ तथा धैवत पश्चात् की एक श्रुति स्वरत्व प्राप्त नहीं करती ।

(इ) श्रुतिपडितो के प्रतिपादन के अनुसार मूर्च्छनाओ (modes) द्वारा बहुताश श्रुतियाँ स्वरत्व प्राप्त कर लेती हैं, परन्तु षड्ज की पूर्ववर्ती तथा परवर्ती एक-एक श्रुति स्वरत्व से फिर भी वचित ही रह जाती है । तात्पर्य, किसी न किसी राग मे प्रत्येक श्रुति स्वर बन जाती है, इस प्रकार का अहोबल का विधान सत्य नहीं है । इस विषय में दत्तिल का वचन 'तेभ्य कांश्चिदुपादाय गीयन्ते सर्व गीतिषु' (द० १०) निर्णायक है ।

(उ) षड्ज की पूर्ववर्ती चार श्रुतियाँ स्वर में रूपान्तरित हो जाने पर 'मृदु' आदि चार प्रकार के षड्ज विशिष्ट भाव के व्यञ्जक पैदा होते हैं, ऐसा अहोबल ने कहा है —

'सत्य षड्जश्चतुर्धा स्यान्मृदुत्वादि-विशेषणै ।
तत्तज्जाति विशिष्टत्वान्नान्यथा सिद्धिरञ्जसा ॥४९॥'

इस विवेचन के अनुसार दीप्त, आयत, मृदु एव मध्य ऐसे चार प्रकार के षड्ज बन जायँगे तथा उनके उक्त नामसदृश भाव भी प्रकट होंगे ।

(क) किन्तु अहोबल ने अपने स्वरों का बयान करते समय उनके 'जाति'-भेदो का त्याग करते हुए पूर्व, कोमल, तीव्र, तीव्रतर इत्यादि स्वर सज्ञाओं का स्वीकार किया है, कारण कि उसको अपने समय के साथ चलना था ।

क० (३) तथा (४) में केशाग्र परिमाण द्वारा अनत श्रुतियों की सभावना दर्शाते हुए भी क० (४) के अनुसार षड्ज पचम भाव-जनित २२ श्रुतियाँ स्वीकृत की हैं। षड्ज-पचम भाव-जन्य श्रुतियो के सम्बन्ध में आगे विचार करेंगे। परन्तु, यहाँ इतना ही कहना प्रर्याप्त होगा कि पचम भावी सप्त स्वर यही **पायथेगोरियन्** सप्तक है । अहोबल का कहना है कि यह श्रुतिनाम उन्होंने नारद के मतानुसार दिये हैं, किन्तु ना० शि० में वे उपलब्ध नहीं हैं। इससे ज्ञात होता है कि अहोबल ने अपने पूर्ववर्ती श्रुतिवादप्रिय ग्रन्थकारो का अनुकरण करने की दृष्टि से ही 'पूर्व' 'अतिकोमल' इत्यादि स्वरो की कल्पना जुटाई है ।

६ अथ षष्ठं श्रुति-लोप-गणना-प्रकरणम्

लुप्यते यः स्वरश्चात्र षाडवे यदि वौडवे ।
ज्ञेयस्तु श्रुति-संसर्गे श्रुति-लोपस्तथा बुधैः ॥ ११४ ॥

गान्धारेण निषादेन विहीनः षाडवो यदा ।
शेष-स्वरेषु जायन्ते श्रुतयो विंशतिस्तथा[1] ॥ ११५ ॥

ऋषभेण विहीनश्च धैवतेनाथ षाडवः ।
ततः शेष-स्वरेषु स्युः श्रुतयस्तत्र विंशतिः ॥ ११६ ॥

षड्जेन पञ्चमेनाथ विहीनः षाडवो यदा ।
°(तदा शेष-स्वरेष्वेव श्रुतयोऽष्टादश स्मृताः) ॥ ११७ ॥

औडवितं च निषाद-गान्धार-रहिते यदि ।
अष्टादशैव श्रुतयः स्मृताः शेष-स्वरेष्वथ ॥ ११८ ॥

गान्धारर्षभ-हीने च त्यक्त-गान्धार-धैवते ।
औडविते तु श्रुतयो बुधैस्तत्र दश स्मृताः ॥ ११९ ॥

षड्ज-गान्धार-हीने तु षड्ज-निषाद-वर्जिते ।
धैवतर्षभ-हीने च त्यक्त-गान्धार-पञ्चमे ॥ १२० ॥

निषाद-पञ्चमोपेताः श्रुतयः षोडश स्मृताः ।
षड्जर्षभ-विहीने च षड्ज-धैवत-वर्जिते ॥ १२१ ॥

पञ्चमर्षभ-हीने च त्यक्त-धैवत-पञ्चमे ।
औडवितेऽथ श्रुतयो बुधैः पञ्चदश स्मृताः ॥ १२२ ॥

षड्ज-पञ्चम-हीने तु .... ।
°(चतुर्दश) श्रुतयस्ततः शेषस्वरेष्विति ॥ १२३ ॥

टी०:—(११४–१२३) वर्ज्य स्वर की श्रुतियाँ भी वर्जित होती हैं, इस प्रकार की कल्पना नान्यदेव द्वारा उपर्युक्त श्लोकों मे प्रस्तुत की गयी है, जो अनावश्यक प्रतीत होती है।

M: १ वर्जिते २ पञ्चमहीने च तथा ३ औडविते

ग्रामे तु मध्यमे हीनो गनीभ्यां षाडवो यदा ।
पूर्ववद् विंशतिः शेष-स्वरेषु श्रुतयः स्मृताः ॥ १२४ ॥

रिपाभ्यां च परित्यक्तौ जायेते यदि षाडवौ ।
ऐकोनविंशतिः शेष-स्वरेषु श्रुतयो मताः ॥ १२५ ॥

ध-सा-भ्यां यद्विहीनं च षाडव-द्वितयं यदि ।
ग-नि-हीनौडवं चेत्स्यात्तदाऽष्टादश ताः स्मृताः ॥१२६॥

रि-ग-हीने °(रि-नि-हीने) प-नि-हीने प-गालिगे ।
औडवे श्रुतयः सप्तदशैव परिकीर्तिताः ॥ १२७ ॥

प-रि-हीने ध-नि-हीने °(स-नि-हीने) धँ-गालिगे ।
स-ग-हीने त्वौडविते षोडश श्रुतयः स्मृताः ॥ १२८ ॥

ध-रि-हीने स-रि-हीने प-ध-त्यक्ते प-सालिगे ।
औडविते मता पञ्चदशैव श्रुतयः सदा ॥ १२९ ॥

स-ध-हीनौडवे शेषाः श्रुतयस्तु चतुर्दश ॥ १३० ॥

स- - - परित्यक्तं नि-ग-हीनं प-रि-च्युतम् ।
त्यक्तेतराणि सर्वाणि स्युर्यान्यौडवितानि तु ॥ १३१ ॥

ध- - - षाडवश्चैको (?) गान्धारग्राम-सम्भवाः ।
ते षड्जग्राम एवोक्ताः श्रुति-संख्यान-संनिभाः ॥१३२॥

षाडवौडवकारी तु यत्र यो यः स्वरः स्मृतः ।
तस्य तस्य श्रुतिस्तत्र लुप्यते नेतरा क्वचित् ॥ १३३ ॥

[1] स०—(११४-१३३) ये श्लोक जात्यध्याय (अ० ६) के प्रारम्भ में पृ० ६८–६९ पर आये हैं, जो समौचित्य के कारण इस स्थान पर समाविष्ट किये हैं ।

/// १ मध्यम-हीने तु यत् षाडवौडवित २ भेद्यो- ३ रिगहीनी ४ धासा ५ परिहीने
६ पनि– ७ [illegible] ८ [illegible]

७. अथ सप्तमं श्रुति-रस-विनियोग-प्रकरणम्

°(अथ श्रुतीणां रसेषु विनियोगो, यथा :—)

हास्य-शृङ्गारयोर्दीप्ता श्रुतिर्भरत-सम्मता ।
आयता चापि कर्तव्या वीर-रौद्राद्भुतेषु च ॥ १३४ ॥
करुणा हि श्रुतिः प्रोक्ता बीभत्से सभयानके ।
मृदुर्मध्या च सर्वेषु रसेषु विनियुज्यते ॥ १३५ ॥

टी०:—(१३४–१३५) i श्रुतिजातियों के रसों का विवेचन ना० शा० में उपलब्ध नहीं है।

ii. श्रुतिजाति दीप्तादि का विवेचन भी ना० शा० में नहीं है । 'श्रुतयोऽन्या द्वितीयस्य मृदुमध्याऽयता. स्मृता. । . .. मृदुमध्यमयोस्तथा ।' इत्यादि दो श्लोक ना० शा० [२९ । ३५–४०] में आये हैं, ये प्रक्षिप्त होने चाहिए, जैसा पहले बतलाया गया है ।

iii. श्लोक १३५ में 'करुणा' श्रुतिजाति बीभत्स और भयानक रसों का परिणाम करनेवाली कही है, एवं 'मृदु' सभी रसों में व्याप्त होनेवाली कही है । यह व्यवस्था समुचित प्रतीत नहीं होती, कारण पचम की श्रुति की जाति करुणा है, एव पचम स्वर शृङ्गार-हास्य का अभिव्यंजक कहा है । इसके अतिरिक्त ऋषभ और धैवत की प्रथम श्रुति की जाति करुणा है, किन्तु ये श्रुतियाँ सगीत में अनुपयुक्त रहती हैं, कारण कि वे कभी भी स्वर का रूप धारण नहीं करती, यही अवस्था ऋषभ-धैवत की द्वितीय श्रुति 'मध्या', 'आयता' एव गान्धार निषाद की प्रथम श्रुति 'दीप्ता' की है । तात्पर्य श्रुतिजाति के करुणा आदि नाम तथा उन नामों से सनद्ध अपना सूचित होनेवाली रसाभिव्यक्ति काल्पनिक ही माननी पड़ेगी । कतिपय श्रुतिपडित भरतोक्त स्वर-रस-व्यवस्था को मूर्च्छना द्वारा प्रचलित हिंदुस्तानी रागों में बलात् निहित करते हैं एव उक्त काल्पनिक आधार पर काफी, भैरवी जैसे शृंगार तथा करुण रसवाले रागों द्वारा घृणास्पद रसभावों के निर्माण की अपेक्षा करते हैं ।

८. अथाष्टमं स्वर-साधारण-प्रकरणम्

अथ काकल्यन्तरौ स्वरौ :—

षड्जं स्वरं परित्यज्य श्रुतिरेका यदा व्रजेत् ।
स्वरं निषादं स तदा काकलीत्यभिधीयते ॥ १३६ ॥
मध्यमं च परित्यज्य श्रुतिरेका यदा व्रजेत् ।
गान्धारं स तदा तज्ज्ञैरन्तर-स्वर उच्यते ॥ १३७ ॥
[षड्जं स्वरं परित्यज्य मृदुर्मन्दाऽभिधा व्रजेत् ।
°(स्वरं निषादं स तदा काकली-)-त्यभिधीयते ॥१३८॥
तस्यैव हि तु मन्दाया याति- - -तीव्राऽभिधा यदा ।
ऋषभं; द्विश्रुतिः षड्जः, स्वर-साधारणं तदा ॥ १३९ ॥
मध्यमं च परित्यज्य मृदुः प्रीत्यभिधा यदा ।
गान्धारमेति; स तदा चान्तरः स्वर उच्यते ॥ १४० ॥]
मध्यमस्य यदा गच्छेद्दीप्ताख्या वज्रिकाऽभिधा ।
पंञ्चमं च तदा ज्ञेयं स्वर-साधारणं तथा ॥ १४१ ॥
एवं मध्यम-षड्जाख्य ग्रामयोरुभयोरपि ।
काकल्यन्तर-योगेन स्वर-साधारणेऽपि च ॥ १४२ ॥
साधारणं तद्द्विविधं जातिकृतं स्वरकृतं चै[11] ।
यत्रो[12]भयोर्जात्योर्ग्रहांशापन्[13]यासादीना[14]मेकेना[15]त्मकेन वा–
ध .. ... णो (?) यौ[16]वज्जातिरिव जातिरुत्पद्यते ।
तत्र जाति-साधारणमित्युच्यते ॥ १४३ ॥

टी० :—(१३६-१४२) श्लो० १३८-१४१ में अतर-काकली का एव ऋषभ पचम का वर्णन पृथक् पृथक् दिया है, किन्तु आगे आनेवाले वाक्य क्र० १४४, १४५ देखने से ज्ञात होगा, कि उक्त वर्णन ग्राम-साधारण त्रिश्रुतिक गान्धार निषाद का है ।

स्प० —I श्लो० १३६ और १३७ MS में क्रमाङ्क ६२ तथा ६३ के हैं ।
II यही श्लोक प० ६८ पर पुनरुक्त हैं, जो ऊपर १३८ से १४० तक दिये हैं ।

M १ पञ्चम २ भवेद् ३ तितिवा ४ पञ्चम ५ एना चैव ६ गछेद्दी ७ गान्धाराख्या ८ थच ९ गान्धार १० र ११ वा १२ भी १३ त्या १४ सां १५ म १६ यवद्गत्येव

यदा च षड्जस्य श्रुतिचतुष्कादेकां श्रुतिं निषाद, इतरां चर्षभ आश्रयति, तदा निषादः काकली-संज्ञो भवति । ऋषभश्च स्वर-साधारणतया साधारण-संज्ञो भवति ॥ १४४ ॥

यदा च मध्यमस्य श्रुतिचतुष्कादेकां श्रुतिं (गान्धार) आश्रयति, इतरां च पञ्चमस्तदा गान्धारोऽन्तर-संज्ञो भवति । पञ्चमश्चर्षभवच्छ्रुति-साधारण इति ॥ १४५ ॥

एवं मध्यमग्रामेऽपि मध्यमस्य श्रुतिचतुष्कादेकैकां श्रुतिमाश्रयन्तावेतावेव काकल्यन्तरौ, स्वर-साधारणैश्च भवति ॥ १४६ ॥

एवं गान्धार-ग्रामेऽपि न चैवैते . .. । एतेषामल्पे स्वरे.. ....त्वोऽल्पत्वं (?) नापि षड्ज-धैवत-मध्यम-गान्धारा अल्पा एव भवन्ति ॥ १४७ ॥

यतः कट्वम्लादि-रसादीनां क्षार-सम-भुजोऽपि सन्, ...ते (?)....रन्यान्य सप्तमो नास्तीति व्यवहारो ....च क्वचित् ॥ १४८ ॥

टी०—(१४४-१५२)। भरतमुनि ने साधारण संज्ञावाले दो विकृत स्वर कहे हैं—अंतर गान्धार एवं काकली निषाद। भरत संगीत के शुद्ध गान्धार-निषाद द्विश्रुतिक (मध्यम भारी कोमल) होते हैं, तथा अन्तर काकली चतुःश्रुतिक होते हैं। शुद्ध गान्धार मध्यम की दो श्रुतियाँ प्राप्त करने पर अन्तर गान्धार बन जाता है, उसी प्रकार षड्ज की दो श्रुतियाँ लेकर शुद्ध निषाद काकली निषाद में परिवर्तित होता है। इस अवस्था में षड्ज एवं मध्यम द्विश्रुतिक हो जाते हैं। अन्तर गान्धार का प्रयोग मध्यमग्राम में तथा काकली निषाद का प्रयोग षड्जग्राम में होता था।

काकल्यन्तर के अतिरिक्त गान्धार निषाद की अन्य दो विकृतियाँ ('साधारण' या 'ग्राम साधारण') रत्नाकर द्वारा वर्णित हैं, जो त्रिश्रुतिक स्वर होते हैं तथा इन्हें रत्नाकर द्वारा 'कैशिक' संज्ञा दी गयी है। कैशिक गान्धार मध्यम-

---

M १ षड्ज २ पा ३ ष्या ४ रा ५ धैवत ६ रा ७ धैवतश्च ८ षड्ज ९ ष्या १० त्वपुत एव ११ र १२ पी १३ इजा १४ रप

यथा च घटा.....भेदेन घटाकाशो विद्यते ।
वस्तुतस्त्वन्य एव....एतदिति नैवावभासते ॥ १४९ ॥
तथा च भरतः,
"साधारणं तद्विविधं द्वैग्रामिक्यं, प्राप्तोपदेश-सिद्धश्च,
निषादः काकली गान्धारश्चान्तरः स्वरः," इति ॥१५०॥
दत्तिलाचार्योऽप्याह :—
"साधारणे तु विज्ञेये स्वर-जात्युपलक्षिते ।
स्वरमध्ये तयोः पूर्वं तत्काकल्यन्तरौ स्वरौ ॥ १५१ ॥
निषादः काकली-संज्ञो द्विश्रुत्युत्कर्षणाद् भवेत् ।
गान्धारस्तद्वदेव स्यादन्तर-स्वर-संज्ञितः" ॥ १५२ ॥
यशोभिः शोभन्ते शरदुदयमो (?) न्मीलदमल—
स्फुरन्मल्ली-दाम-द्युतिभिरभितो यस्य ककुभः ॥
त्त्चाधारः (?) संग्रामः श्रुतिरपि न सोढा रिपु-नृपैः ।
.....अमुं श्रुत्यध्यायं व्यस्तजदिह नान्यो नरपतिः ॥ १५३ ॥

इति महासामन्ताधिपति-धर्मावलोक-श्रीमन्नान्यपति-विरचिते सरस्वती-हृदयालङ्कार-नाम्नि भरत-भाष्ये श्रुत्यध्यायस्तृतीयः समाप्तः ॥

ग्राम में प्रयोज्य होता है एवं कैशिक निषाद षड्जग्राम में प्रयोज्य होता है। म० ग्रामिक शुद्ध गान्धार मध्यम की एक (प्रथम) श्रुति लेता है एवं म० ग्रामिक पंचम मध्यम की एक (अन्तिम) श्रुति ग्रहण करता है; इस अवस्था में म० ग्राम में गान्धार, मध्यम तथा पंचम क्रमशः तीन, दो और चार श्रुति के बन जाते हैं। इसी प्रकार ष० ग्राम में निषाद, षड्ज एवं ऋषभ क्रमशः तीन, दो और चार श्रुति से युक्त हो जाते हैं।

iii त्रिश्रुतिक ग-नि का निर्देश तथा वर्णन सर्वप्रथम नान्यदेव ने किया है। नान्यदेव ने कै० ग-नि को अं० का० के साथ मिश्र किया है, इससे अनुमान होता है, कि 'कैशिक' गान्धारनिषाद नान्यदेव के समय में ही नये नये प्रचार में आये होंगे; फलतः उन स्वरों की श्रुतिव्यवस्था को उस समय के ग्रंथकार निश्चित नहीं कर पाये।

F: (१५०) B. २८।३७ pb. (१५१, १५२) D. ४६; १६

M: १ सरदु: २ त्तो ३ वि

चतुर्थो मूर्च्छनाऽध्यायः

१ अथ मूर्च्छना-नाम-निरुक्ति-प्रकरणं प्रथमम्

इदानीं ग्रामभेदेन मूर्च्छनानामवस्थितिः ।
नामाधिदेवतानां च यथावदनुकीर्त्यते ॥ १ ॥
स्वराणां मूर्च्छना मूर्च्छा-धातुर्मोहे समुच्छ्रये ।
स्वरेभ्य उत्थितो नादः स्वरेष्वेवहि मूर्च्छति ॥ २ ॥
स्वर-मण्डल-संपूर्णा षाडवौडविता तथा ।
साधारणी च विज्ञेया चतुर्धा मूर्च्छना बुधैः ॥ ३ ॥
षड्ज-मध्यम-गान्धार-ग्रामाणां क्रमशस्त्विमाः ।
सप्त सप्तैव मन्तव्या मूर्च्छना एकविंशतिः ॥ ४ ॥
तत्र षड्जग्रामे सप्त मूर्च्छनाः ।
एकविंशतिरीह भरतः ॥ ५ ॥
"आद्या (उ)त्तरमन्द्रा स्याद्रजनी चोत्तरायता ।
चतुर्थी शुद्धषड्जा च पञ्चमी मत्सरीकृता ॥ ६ ॥
अश्वक्रान्ता तथा षष्ठी सप्तमी चाभिरुद्गता ।
षड्जग्रामाश्रिता ह्येता विज्ञेयाः सप्त मूर्च्छनाः ॥ ७ ॥
इत्यत्र षड्ज-निषाद-धैवत-पञ्चम-मध्यम-गान्धारर्षभाः
स्वराः क्रमादिति" ॥ ८ ॥

टीः—(१-२१) i. तीनों ग्रामों की मूर्च्छनाओं की नामनिरुक्ति दी है। अश्वक्रान्ता, शुद्धषड्जा, उत्तरायता, पौरवी, मार्गी इत्यादि शब्दों की निरुक्ति शब्द-सादृश्य के आधार पर दी हुई है, अतएव केवल काल्पनिक है।

Ad: (४-७) B. २।१३०, ३१;
(८) B. २८-३१; pb. 'आसां...गान्धारर्षभाद्या. स्वराः'।

F. (२) M. ५३-५४ (३) M. २८।३३, ii; M ९४, i; R. १।४।१६
(४-५) D. २१-२३; M. ९६-९८ R. १।४।१०

M: १ मां २-न्य ३-रा ४ ना ५ र्या ६ शुद्धिरो ७-रो ८ मैं ९ ते १० णे ११ श्रा १२ मं १३ सा १४ त्र १५ नी

एता [1] सरिगमपधनिपु क्रमेण सनिरुक्तनामाधिदेवताभ्या दर्शयति, तद्यथा—

षड्जेतूत्तरमन्द्रा स्यान्मन्द्रश्चात्रोत्तरः स्वरः ।
तस्मादुत्तरमन्द्रेयं, यक्षश्चात्राधिदैवतम् ॥ ९ ॥
अभिरौतीत्यभिरुता तद्रता चाभिरुद्गता ।
मूर्च्छना ऋषभेणेयं, वरुणश्चात्र दैवतम् ॥ १० ॥
अश्ववत्क्रमते यस्मादश्वक्रोश-सम-ध्वनिः ।
अश्वक्रान्तेति गान्धारे ह्यश्विनावत्र दैवतम् ॥ ११ ॥
मध्यमालाप-सरणा सा भवेन्मत्सरीकृता ।
स्वरेण मध्यमेनेयं, स्मृता नागाधिदेवता ॥ १२ ॥
शुद्धश्चात्र भवेत् षड्जः, शुद्धषड्जा ततः स्मृता ।
पञ्चमेन स्वरेणेयं, देवताऽस्याः पितामहः ॥ १३ ॥
उत्तरोत्तरतश्चास्यामायतो हि स्वरो यतः ।
तेनेयं मूर्च्छना प्रोक्ता धैवते चोत्तरायता ॥ १४ ॥
स्वरान्स्वरान्रञ्जयति तेनेयं रजनी मता ।
निषाद-स्वर-संभूता राक्षसश्चात्र दैवतम् ॥ १५ ॥
अथ मध्यमग्रामे । °(यथा) आह भरतः,
"सौवीरी हारिणाश्वा च स्यात्कलोपनता तथा ।
शुद्धमध्या तथा चैव मार्गी स्यात्पौरवी तथा ॥ १६ ॥
हृष्यका चेति विज्ञेया मध्यमग्राम-मूर्छना ।"
आसां मध्यम-गान्धारर्षभ-षड्ज-समुद्भवाम् ॥ १७ ॥
.... ।
ब्रह्माधिदेवता चास्या मध्यम-स्वर-मूर्च्छना ॥ १८ ॥

---

11 श्लो० ३५ ३८ में ऋषि आदि की मूर्च्छनाओं के नारदोक्त नाम दिये हैं, जो ना० शि० से उद्धृत किये हुए हैं। इनमें षड्जग्रामिक मूर्च्छनाओं के

Ad (१६-१७) B २८।३२ ३३

F (१६-१७) D २४,२५, M ९९ १०० E ११४। ११, १२

M १ पधनि २ वता ३ वा ४ रौद्रि ५ स्याव ६ ध ७ यथकोश ८ सा ९ यौ १० यका

हृष्यन्त्यप्सरसश्चाद्भ्यो गन्धर्वाश्चैव....यतः।
मूर्च्छना पञ्चमे ज्ञेया हृष्यका चार्कदेवता ॥ १९ ॥
अम्भोधर-रवाकारान्पूर्णा तु -- कुरुते स्वरान्।
पौरवी धैवते मूर्च्छा त्रिधिश्चात्राधिदैवतम् ॥ २० ॥
मृगैः संचर्यते यस्मान्मृग्यते च स्वरैरियम्।
मार्गी निषादे विज्ञेया मृगेन्द्रश्चाधिदैवतम् ॥ २१ ॥
मध्यदेशे समुत्पन्ना षड्जे स्याच्छुद्धमध्यमा।
मध्यमोऽत्र स्वरः सिद्धो गन्धर्वश्चात्र दैवतम् ॥ २२ ॥
काल-रूप-नता या तु मरुद्भिर्ऋषभे स्वरे।
स्यात्कलोपनता मूर्च्छा मरुच्चात्राधिदैवतम् ॥ २३ ॥
हरिदेव-समुत्पन्ना गान्धार-स्वरसम्भवा।
मूर्च्छना हारिणाश्वा स्यादिन्द्रश्चात्राधिदैवतम् ॥ २४ ॥
गान्धारग्रामश्च भरतेनालौकिकत्वान्नोपदर्शितः।
अस्माभिश्चागमानुसारेण प्रदर्शितः ॥ २५ ॥
अतस्तदीयाः सप्त मूर्च्छना ग-म-प-ध-नि-स-रिपु स्वरेषु क्रमेण सनिरुक्तनामाधिदेवताभ्यामुपदर्श्यन्ते ॥ २६ ॥ तद्यथा—
आलापस्यातिरौद्रत्वाद्गान्धार-स्वर-मूर्च्छना।
आलापा मूर्च्छना ज्ञेया रुद्रश्चात्राधिदैवतम् ॥ २७ ॥
ग्रामेषु त्रिपु सर्वत्र मध्यमो नैव लुप्यते।
मध्यमस्य विशालत्वाद् विद्याद् वै विष्णु-देवता ॥ २८ ॥

नामों के साथ भरतादि द्वारा कथित दोनों ग्रामों की मूर्च्छनाओं के कतिपय नाम सम्मिश्र हैं।

III- अनुमान किया जाता है, कि भरत-समय के पूर्व नारदोक्त मूर्च्छना-नाम ही व्यवहृत होते थे।

F (१-२४) B ११ ४। २०, २१

M १ साथ २ युक्त ३ श्च ४ वे ५ भ

गये (?) षड्जश्चलव्यूढा पितामहमुपस्थिता ।
षड्जेयं मूर्च्छना तेन पञ्चमेऽनल-देवता ॥ २९ ॥
गान्धार्यास्तूत्तरं यस्मात् . .ष्ठेयं मूर्च्छना ततः ।
धैवतोत्तर-गान्धारः सवश्चात्राधिदैवतम् ॥ ३० ॥
गान्धारयति-शब्देन गान्धारस्येति वा पुनः ।
निषादे [३] शुद्धगान्धारी गावश्चात्राधिदैवतम् ॥ ३१ ॥
....तेषां नन्दिनी षड्ज-संश्रिता ।
ऋषीणां स्नातकानां च विश्वेदेवाश्च दैवतम् ॥ ३२ ॥
सक्तु-तानारतं (?) श्रुत्वा यस्माद्गायन्ति किंनराः ।
ऋषभे तिमा(?) तस्मात्पक्षिराजोऽत्र दैवतम् ॥ ३३ ॥
नारदेनापि मुनिना प्रोक्ता नामान्तरे तु याः ।
मूर्च्छना ग्रामभेदेन तासां नामाभिधीयते ॥ ३४ ॥
तत्र षड्जग्रामे—
षड्जे तूत्तरमन्द्रा स्यादृषभे चाभिरुद्गता ।
अश्वक्रान्ता तु गान्धारे तृतीया मूर्च्छना स्मृता ॥ ३५ ॥
मध्यमे खलु सौवीरी हृष्यका पञ्चमे स्वरे ।
धैवते चापि विज्ञेया मूर्च्छना तूत्तरायता ॥ ३६ ॥
निषादे रजनी विद्याद् ऋषीणां सप्त मूर्च्छनाः ।
अथ मध्यमग्रामे—
आप्यायनी विश्वदूता चन्द्रा हेमा कपर्दिनी ।
मैत्री चान्द्रमसी चैव पितॄणां सप्त मूर्च्छनाः ॥ ३७ ॥
अथ गान्धारग्रामे—
नन्दा विशाला सुमुखी चित्रा चित्रवती सुखा ।
आलापा चैव विज्ञेया देवानां सप्त मूर्च्छनाः ॥ ३८ ॥

स्प०—MS में इसके आगे उपरोक्त ३६ और ३७ पुनरुक्त हैं ।

F (३५,३७) ॥ ११४।२३,२४ pb 'उत्तरवर्णा', 'विरुद्गता' (३८) ॥ ११ ४। २२–२६

M १ श्च २ के ३ षि

षड्ज-मध्यम-गान्धारग्रामाणामप्यनुक्रमात् ।
मूर्च्छनाः पूर्वकथिता ज्ञेया नामान्तरादिमाः ॥ ३९ ॥

यत्र ग्रामे यदा यस्तु षाडवे लुप्यते स्वरः ।
तदा तन्मूर्च्छना-हीनं विज्ञेयं षाडवं बुधैः ॥ ४० ॥

ज्ञेयं औडवितेऽप्येवं पञ्च-स्वर-कृते सदा ।
लोप्ययोः स्वरयोरेव मूर्च्छा-द्वय-विलोपनम् ॥ ४१ ॥

२ अथ मूर्च्छनाऽतियोग-कथनं प्रकरणं द्वितीयम्

साम्प्रतं मूर्च्छनानां च ह्यतियोगो निगद्यते ॥ ४२ ॥
एताश्चैव प्रतिग्रामं सप्त, ता एकविंशतिः ॥ ४३ ॥

उत्तरमन्द्रा रजनी ह्यश्वक्रान्ता तथैव च ।
स्यान्मैत्सरीकृता शुद्धषड्जा चैवोत्तरायता ॥ ४४ ॥
तथाऽभिरुद्गता, सप्त षड्जग्रामस्य मूर्च्छनाः ॥ ४५ ॥

तत्र येनैव स्वरेण तूच्छ्रायो गीतानामुद्ग्राहः प्रवर्तते, तेनैव स्वरेण यदाऽपोहः समाप्तिरपि भवति, तदा 'सरिगमपधनिस' इति स्वर-सन्निवेशे सति ॥ ४६ ॥

टीः— (४६-४७) i. मूर्च्छना के नियम समझाये हैं, कि उद्ग्राह तथा समाप्ति एक ही स्वर द्वारा करनी चाहिए। अर्थात् मूर्च्छना का प्रारंभिक स्वर ही मूर्च्छनान्तःपाती होना चाहिए, जिससे प्रत्येक मूर्च्छना 'स–सं', 'नि़–नि', 'ध़–ध' आदि प्रकार से बनेगी। अर्थात् यह मूर्च्छना आठ स्वरों की बनेगी।

स्प०– (४२) i. MS. के पत्र ६४–६५ पर मूर्च्छनाविषय के श्लोक आये हैं, जो यहां क्र० ४२ से ६३ तक दिये है।

ii. श्लो० ४२ के आगे 'स्वराणा मूर्च्छना मूर्च्छा-धातुः' इत्यादि उपरोक्त श्लो० क्र० २ MS. में पुनरुक्त है।

F. (४३–४५) B. २८।३०–३५ ; D. २१–२५ ; M. ९४–१०३; R. १।४।९–१५

M १–रा २ कार्थिता ३ मत्सरीकृता ४–मध्या ५ नव–

एवं निषाद्-स्वरेणैवोद्ग्राह-समाप्तौ कृतायां 'निसरिगमपध-नी'ति सन्निवेशे । तथा–'धनिसरिगमपध' इति; 'पधनिस-रिगमप[1]' इति; 'मपधनिसरिगम' इति; 'गमपधनिसरिग' इति; 'रिगमपधनिसरि' इति सन्निवेशे क्रमादेताः षड्जग्रामिकाः सप्त मूर्च्छना जायन्ते ॥ ४७ ॥

सौवीरा हारिणाश्वा स्यात्कलोपनता तथा ।
शुद्धमध्या च मार्गी च पौरवी हृष्यका तथा ॥ ४८ ॥
सप्तभिर्मुनिभिः प्रोक्ता मध्यमग्राममूर्च्छनाः ॥ ४९ ॥

यत्राप्युद्ग्राह-समाप्तौ मध्यम-स्वर-योगान्मपधनिसरिगमेति

---

ii. मतंग एव रत्नाकर ने मूर्च्छना की जो व्याख्या दी है, उसके अनुसार 'क्रमयुक्त सात (या द्वादश) स्वरों का आरोहावरोह करने' से मूर्च्छना पैदा होती है। इस प्रकार के आरोहावरोह को रत्नाकर ने मूर्च्छना संज्ञा दी है:—

"क्रमात्स्वराणा सप्तानामारोहश्चावरोहणम् ।
मूर्च्छनेत्युच्यते.. .... ॥ १।४।९ ॥"

किन्तु कल्लिनाथ ने स्पष्ट किया है, कि इस प्रकार के सप्तस्वरों के समुदाय को मूर्च्छना नाम दिया जाता है, न कि आरोहावरोहक्रिया को। कल्लिनाथ का यह स्पष्टीकरण मतंग के वचन पर आधारित होना चाहिये, जो इस प्रकार है:—'स्वराणामेव मूर्च्छनात्वं, न त्वारोहणावरोहणरूपायाः क्रियाया.' । इसके पश्चात् कल्लिनाथ ने मतंगकृत व्याख्या दी है।

मतंग द्वारा की हुई मूर्च्छना की व्याख्या निम्ननिर्दिष्ट है:—

'आरोहणावरोहण-क्रमेण स्वर-सप्तकम् ।
मूर्च्छना-शब्द-वाच्य हि विज्ञेय तद्विचक्षणैः ॥ ९५ ॥'

iii. नान्यदेव ने मूर्च्छना के उदाहरण दिये हैं, वे क्रमयुक्त आठ स्वरों के आरोह के रूप दिये हैं, जैसा कि :– 'सरिगमपधनिस' इत्यादि। मतंग की दी हुई मूर्च्छनाएँ भी सप्त स्वरों के केवल आरोहरूप ही हैं। इस विषय में मतंग का वचन निम्नलिखित है:—

'एव तावदुभयग्रामिक्यश्चतुर्दश मूर्च्छनाः सम्पूर्णाः,— 'सरिगमपधनि' । 'निसरिगमपध' इत्यादि (पृ० २३)।

M· 1 पधनि

स्वर-सन्निवेशे सत्येवं रागादि (?)....।.
ऋषभात् ....। गान्धारत्वादिभेदेन क्रमादेताः
सप्त मूर्च्छना जायन्ते ॥ ५० ॥

तथाऽऽलापा विशाला च षड्जाऽन्या तदनन्तरम् ।
तथैवोत्तरगान्धारी शुद्धगान्धारिका तथा ॥ ५१ ॥
नन्दिनी कु..............ना ।
...................वति गान्धारग्राममूर्च्छनाः ॥ ५२ ॥

अत्राप्युद्ग्राह-समाप्तिभ्यां गान्धार-स्वर-साधारणतया 'गमपधनिसरिगे'ति स्वर-सन्निवेशे सत्येवमृषभादि षड्ज (?) ऋषभान्तत्वादि-भेदेन क्रमेणैताः सप्त मूर्च्छना जायन्ते ॥ ५३ ॥ न त्वभिन्न एवैशे (?) स्तद्गतौ मूर्च्छनाः सप्तभ्यः पृथगुपदिश्यन्ते । नव-संज्ञान्तरकरण एव नियमादृष्ट-शक्तिरित्युच्यते ॥ ५४ ॥ नीचोच्चत्वादि-जनितो भेदो ग्रामेषु च स्फुटः । स्वरानुपूर्व्यां साम्येऽपि तत्तन्मूर्च्छनान्यत्वम् त्रैग्रामिकीणामेतासां मूर्च्छनानां च जायते ॥ ५५ ॥

अनाशी मध्यम-°[त्रिषु] ग्राम-सप्तकेष्ववस्थितः ॥ ५६ ॥

यथाऽऽह भरतः

'सर्वे स्वराणां मुखरो ह्यनाशित्वादयं स्मृतः ।
गान्धर्व-कल्पे विहितः सामगैरपि मध्यमः' ॥ ५७ ॥

दत्तिलोऽप्याह—

"पञ्चमं मध्यमग्रामे षड्जग्रामे च धैवतम् ।
अनाशिनं विजानीयात् सर्वदैव तु मध्यमम्" ॥ ५८ ॥

एतेन स्वरालापपक्षे प्रवाह-प्रतिहत एव तत्तत्स्वर-मूर्च्छनाऽन्यव्यपदेशः ॥ ५९ ॥

F. (५७) ॥ २८।७३ pb, B. ११४।६ (५८) D. २०

M : १ ळो २ वन्नात्न्या ३ र्गा ४ स्मे- ५ तथा ६ न्येन ७ -न्ते ८ -स्पो

चतुर्धा मूर्च्छनाश्चैताः सम्पूर्णाः षट्स्वरास्तथा।
................षड्ज (?) साधारणात्मिकाः ॥ ६० ॥
तथा लुप्तस्वराः प्रोक्ता एक-द्वि-स्वर-लोपतः।
षाडवा औडवाः साधारणात्साधारणाभिधाः[1] ॥ ६१ ॥

टी०:—(६०-६१) i. मूर्च्छना के चार प्रकार प्रत्येक ग्राम में बताये हैं, वे ष० ग्राम एवं म० ग्राम में ही समझना चाहिए; कारण, गान्धारग्राम में ग्रामांश स्वर षट्श्रुतिक गान्धार होने से उसमें अन्तर-काकलि-युक्त मूर्च्छना ठीक तरह से बन नहीं सकेगी।

ii. मूर्च्छना के चार प्रकार १: सम्पूर्णा; २: षाडवा; ३: औडवा; तथा ४: काकल्यन्तरयुक्ता इस प्रकार नान्यदेव ने कहे हैं। भरत, दत्तिल एवं मतंग ने यही चार प्रकार कहे हैं:—

(A) 'एवमेताः प्रक्रम-युक्ताः पूर्णाः षाडवौडविती-
कृताः साधारण-कृताश्चेति चतुर्विधाश्चतुर्दश मूर्च्छनाः।
क्रमयुक्ताः स्वराः सप्त मूर्च्छनास्त्वभिसंज्ञिताः।
षट्-पञ्चक-स्वरास्तासां षाडवौडविताः स्मृताः ॥३४॥
साधारण-कृताश्चैव काकली-समलङ्कृताः।
अन्तर-स्वर-संयुक्ता मूर्च्छना ग्रामयोर्द्वयोः ॥२८।३५॥'

— भ० ना०

(B) 'सर्वास्ता पञ्च-षट्-पूर्ण-साधारण-कृताः स्मृताः।'

— द० २५

(C) '*तत्र सप्तस्वर-मूर्च्छना चतुर्विधा*— पूर्णा, षाडवा, औडविता, साधारणा चेति। तत्र सप्तभिः स्वरैर्या गीयते सा पूर्णा। षड्भिः स्वरैर्या गीयते सा षाडवा। पञ्चभिः स्वरैर्या गीयते सा औडविता। काकल्यैरन्तर-स्वरैर्या गीयते सा साधारणा' —बृ० दे० (पृ० २२)

iii. मूर्च्छना-प्रकारों के विषय में रत्नाकर ने मतभिन्नता प्रकट की है। उसने शुद्धा, अन्तर-सहिता, काकली-सहिता एवं अन्तर-काकली-युक्ता इस प्रकार चतुर्विधा मूर्च्छना बतायी है, और षाडव-औडव मूर्च्छनाप्रकार तानों में अन्तर्भूत किये हैं (सं० र० १।४।९)। रत्नाकर द्वारा किया गया यह वर्गीकरण सुव्यस्थित अवश्य है, किन्तु भरतादि से भिन्न है।

- M: १ यथा

स-रि-ग-प-ध-नि-हीनाः षाडवा (मूर्च्छनाः) स्युः।
षाडव-स्वर-जनित एको मध्यमो नैव लोप्यः॥
स्वर-युगुल-विहीना औडवास्तु स्वरज्ञै–।
रिहहि मुनिभिरुक्ताः पञ्चधा मूर्च्छनास्तु॥ ६२॥
स-प-हीनं रि-प-हीनं, ग-नि-हीनं,........।
रि-ध-हीनं, ग-नि-हीनं,........॥ ६३॥

---

iv. रत्नाकरोक्त वर्गीकरण के आधार पर आजकल कुछ ऐसे ही निष्कर्ष निकाले जा रहे हैं, कि (१) 'एवमेताः प्रक्रम-युक्ताः' इत्यादि भरत-वचन प्रक्षिप्त है; तथा (२) 'क्रमयुक्ताः स्वराः सप्त मूर्च्छनास्त्वभिसंज्ञिताः।' इत्यादि (३४ एवं ३५) श्लोकों का अर्थ येनकेन प्रकारेण करते हैं, कि:—
'क्रमयुक्त सात स्वर मूर्च्छना कहलाते हैं। उन मूर्च्छनाओं के षट्स्वर षाडव और पंचस्वर औडवित की उत्पत्ति होती है। साधारणकृत, काकलीयुक्त एवं अन्तर-संयुक्त मूर्च्छनाएँ भी दोनों ग्रामों में होती हैं। यहां षाडवित औडवित यह मूर्च्छनाओं से उत्पन्न होनेवाले रूप हैं, जिनका नाम 'तान' है, ये मूर्च्छनाओं के भेद नहीं।'

इन तर्कों का निराकरण इस प्रकार है:—

(अ) 'क्रमयुक्ताः स्वराः सप्त०' इत्यादि श्लोकों से मूर्च्छनाप्रकारों का वर्णन किया गया है तथा ये श्लोक 'एवमेताः प्रक्रम-युक्ताः पूर्णा०' इत्यादि वाक्य के पश्चात् स्पष्टीकरणार्थ आये हैं, अतः मानना पडता है, कि 'क्रमयुक्ताः स्वराः सप्त०' इत्यादि वाक्य प्रक्षिप्त नहीं है।

स्प०—i. श्लो० ६३ के पश्चात् MS. में 'साधारण तद् द्विविधं; जाति-कृतं, स्वर-कृत...' इत्यादि 'साधारण' का विषय वर्णित है, तत्पश्चात् 'वादी' 'संवादी' आदि स्वरों की चर्चा आयी है। 'साधारण' का विषय तृतीयाध्याय में उद्धृत किया है।

ii. निम्नोद्धृत श्लोक MS. के पृ० १३ ऊपर आये हैं।

.... सरि-हीनमथापरम्।
सध-हीनं, सरि-हीनं, रिग-हीनं परि-च्युतम्॥
रिध-हीनं, गिरि-हीनं मप-हीनं पध-च्युतम्।
मनि-हीनं, पध-हीनं... ...धनि-च्युतम्॥

M: १ पूर्णदासेव

तानानामधुना सम्यग् व्युत्पत्तिः सिद्धिरेव च ।
षाडवौडव-पूर्णानां संयोगश्चैव कथ्यते ॥ ६४ ॥
षड्जर्षभ-गान्धार-मध्यम-पञ्चम-धैवत-निषादाः ।
परस्परेण तन्यन्त इति तान-संज्ञां लभन्ते ॥ ६५ ॥

(इ) 'क्रमयुक्ताः स्वराः सप्त' इत्यादि दो श्लोको से भरतमुनि ने मूर्च्छनाओं के चार प्रकारो का ही वर्णन किया है, कारण इन श्लोकों की अन्तिम पंक्ति में 'मूर्च्छना' शब्द स्पष्ट है:—

'अन्तर-स्वर-संयुक्ता मूर्च्छना ग्रामयोर्द्वयोः ॥ ३२ ॥'

(उ) उपर्युक्त निष्कर्ष (२) में भरतवचन का निकाला हुआ अर्थ—'साधारणकृत, काकलीयुक्त एवं अन्तर-संयुक्त मूर्च्छनाएँ भी दोनों ग्रामों में होती हैं' भ्रामक है। कारण, उपरोद्धृत (A) में 'एवमेताः प्रक्रम-युक्ताः पूर्णाः' इत्यादि भरतवचन दिया है, उसमें चतुर्थ भेद 'साधारणकृता' इस प्रकार संक्षिप्तरूप से कहा गया है, उसी का स्पष्टीकरण बाद में श्लोक ३४, ३५ में भरतमुनि ने 'साधारण-कृताश्चैव काकली-समलङ्कृताः। अन्तर-स्वर-संयुक्ता मूर्च्छना............।' इन शब्दो से किया है। तात्पर्य, इन श्लोकों द्वारा भरतमुनि ने १: 'साधारणकृत', २: अन्तरयुक्त एवं ३: काकली—युक्त ऐसे तीन मूर्च्छनाप्रकार नही बताये हैं; अपितु, 'साधारण-कृत' के दो भेद—१: अन्तर-युक्त तथा २: काकली-युक्त स्पष्ट किये हैं। 'साधारणकृत' के उक्त दो भेद बताने का कारण यह है, कि 'साधारणकृत' मूर्च्छना दोनों ग्रामों को व्याप्त करनेवाली है, परन्तु षड्ज-ग्रामिक 'साधारण-कृत' मूर्च्छना काकलीयुक्त होगी, तो मध्यम-ग्रामिक 'साधारणकृत' मूर्च्छना अन्तर-युक्त होगी। 'साधारण-कृताश्चैव०' इत्यादि श्लोक से भरतमुनि ने 'साधारण-युक्त' मूर्च्छनाओं का ग्राम-विशिष्ट वियोजन करके बताया है; कारण कि भरतसंगीत में काकली निषाद केवल षड्जग्राम में प्रयोज्य होता था, उसी प्रकार अन्तर-गान्धार एकमात्र मध्यमग्राम में प्रयोज्य स्वर था। अतः आजकल के इन निष्कर्षों के अनुसार 'साधारण-कृत, अर्थात् काकली-युक्त एवं अन्तर-संयुक्त मूर्च्छनाएँ भी दोनों ग्रामों में होती हैं' ऐसा तर्क किया गया है, वह भरत-मन्तव्य के विपरीत है, अतएव भ्रामक है।

V. भरतादिओं के लिखने से स्पष्ट होता है, कि षाडव-औडव मूर्च्छनाओं का ही दूसरा नाम 'तान' था। निम्नोद्धृत ग्रंथवचन इसके प्रमाण हैं:—

—F: (६५–७०) D. ३८–४१; M. पृ. ३०–३१; R १।४।२७–५९

M: १ म—

तनु विस्तार इत्यस्माद् धातोः कर्मणि तत्र तान-सिद्धिः ॥ ६६ ॥ ते च स्वराः षाडवौडव-पूर्णाः प्रस्तार-क्रमेण. कायामेव (?) चत्वारिंशदधिक-पञ्च-सहस्राणि भवन्ति ॥ ६७ ॥ एकादि-क्रमेण सप्तान्तान् विनिवेश्य पूर्वं परेण गुणयेत् । यथा एक-स्वरस्याधिकृतत्वादेकैव संख्या ॥ ६८ ॥

---

(१) 'तत्र मूर्च्छना-संश्रितास्तानाश्चतुरशीतिः ।'

(२) 'प्रयोक्तुः श्रोतुः सुखार्थं तान-मूर्च्छना-तत्त्वम् ।
मूर्च्छना-प्रयोजनमपि स्थान-प्राप्त्यर्थः ।'
— भ० ना० २८।२६

[३] 'पञ्च-स्वराः षट्-स्वराश्च मूर्च्छना याः प्रकीर्तिताः ।
तानाश्चतुरशीतिस्तु ता एवात्रैरुदाहृताः ॥'
—द० ३०

(४) 'इदानीं सम्प्रवक्ष्यामि षाडवौडव-मूर्च्छनाः ।' इत्यादि
—बृ० दे० पृ० २४

(५) 'तानाः स्युर्मूर्च्छनाः शुद्धाः षाडवौडुवितीकृताः ॥'
—सं० र० १।४।२७॥

(६) 'प्रसङ्गात्क्रमानुक्त्वा मूर्च्छनैक-देश-रूपत्वेन
मूर्च्छनाऽनन्तरमुद्दिष्टाञ्छुद्ध-तानाँल्लक्षयति ।' (—क०)

मूर्च्छना और तान में वस्तुतः कोई अन्तर नहीं, इस प्रकार का नारद-भरत-पूर्व ग्रन्थकार **विशाखिल** का मत मतंग ने उद्धृत किया हैः—

'ननु मूर्च्छना-तानयोः को भेदः ? उच्यते मूर्च्छना-
तानयोर्नार्थान्तरत्वमिति विशाखिलः ।'

(७) आगे चलकर मतंग ने विशाखिल के मत का खण्डन किया है, कि मूर्च्छना आरोह-क्रम-युक्त होती है, तो तान अवरोह-क्रम से होती है, यही दोनो का भेद है । 'एतच्चासङ्गतम् । संग्रहश्लोके तु मूर्च्छना-तानयोर्भेदस्य प्रतिपादितत्वात् । तत् कथम् ? । मूर्च्छनाऽऽरोह-क्रमेण तानोऽवरोह-क्रमेण भवतीति भेदः ।' (पृ० २६) । इस विषय में पहले ही स्पष्ट किया है, कि मतंग तथा नान्यदेव द्वारा दिये गये मूर्च्छनाओं के उदाहरण केवल आरोह-युक्त ही हैं ।

मूर्च्छना तथा तानें प्रथमतः सामगायन में प्रयुक्त होती थीं और सामसप्तक अवरोही था । यही कारण होगा, कि मूर्च्छना-तानें निम्न-निम्नस्थ स्वरों से आरम्भ होती थी ।

द्वयोः संयोगाद्द्वावेव । त्रयाणां षड् भेदाः । चतुर्णां[1]
चतुर्विंशतिः । पञ्चानां विंशत्यधिकं शतम् ॥ ६९ ॥
षण्णां विंशत्यधिक-सप्त-शतानि । सप्तानां चत्वारिंशद्-
धिक-पञ्च-सहस्राणि । अत्र स्वर-संख्यया समुच्चार्य
[2]त्रयस्त्रिंशदधिक-पञ्च-सहस्राणि ताना इति ॥ ७० ॥
ब्रूमोऽऽधुना तान-संख्या ग्रामेषु त्रिष्वनुक्रमात् ।
प्रस्तारं योगं च तथा नाम तानस्य यस्य तत् ॥ ७१ ॥
षड्जमृषभ-गान्धार-मध्य-पञ्चम-धैवतान् ।
निषादं च क्रमादेवं षड्जग्रामे न्यसेत्स्वरान् ॥ ७२ ॥
स्वरा मपधनीत्येवं सरिगैः सह विन्यसेत् ।
मध्यमग्राममासाद्य कथितोऽयं स्वर-क्रमः ॥ ७३ ॥
ग-म-प-ध-नि-स-रीति ग्रामो गान्धार उच्यते ।
अत्राप्यनुक्रमेणैवं स्वरान्सप्त निवेशयेत् ॥ ७४ ॥
त्रयस्त्रिंशत्परा पञ्च-साहस्री पूर्ण-संख्यया ।
विज्ञेया ग्राम एकस्मिन् तानानां तान-वेदिभिः ॥ ७५ ॥
सविंशतिः सप्तशती प्रत्येकमपि षाडवे ।
प्रत्येकमौडवे विंशत्यधिकं शतमिष्यते ॥ ७६ ॥
केचिदेवावकृष्टासु ध्रुवासु[3] चोपयोगतः ।
चतुःस्वर-प्रयोगस्तु मुनिना चोपदर्शितः ॥ ७७ ॥
क्रियां....स्तस्य हेतुत्वाद् विंशतिश्च तथा पुनः ।
अधिका सप्तनवत्या ज्ञेया तान-प्रयोक्तृभिः ॥ ७८ ॥
एवं ग्रामे मध्यमाख्ये[4] त्रिभिरेव च षाडवैः ।
ओडव-द्वितयेनापि तथा चतुःस्वरेण च ॥ ७९ ॥
पूर्णेन च भवेत्सप्तसाहस्री तान-भेदतः ।
चतुःशती तथा सप्तपञ्चाशदधिका[5] पुनः ॥ ८० ॥

M: १ र्णः २ त्रयोविंशद्- ३-स्रो ४-ख्ये ५-दश-

गान्धारेऽपि तथा ग्रामे एकादशभिरौडवैः ।
षाडवेनापि चैकेन तथा चतुःस्वरेण च ॥ ८१ ॥
पूर्णेन च भवेत्तानं संख्यया सह कथ्यते ॥ ८२ ॥
तानानां सप्तनवति सहस्राण्यथ सप्त च ।
गान्धारग्राममासाद्य संख्येयं समुदाहृता ॥ ८३ ॥
ग्राम-त्रयेऽपि चैवं स्यात्संख्याऽत्र समुदायतः ॥ ८४ ॥
एकपञ्चाशदधिका भवेदष्टशती तथा ।
द्वाविंशतिः सहस्राणि ताना: स्युः पुनरुक्तितः ॥ ८५ ॥
अत्र च पुनरुक्त-निरन्तरैकान्तर-विवादिता ।........

....म-परित्यागात् ॥ ८६ ॥ नारदेन स्तोत्र-यज्ञोपयोगितया ग्राम-त्रय एकोनपञ्चाशदेव षाडवौडवयोः कथितास्ताना: ॥ ८७ ॥ यदाह—

"विंशतिर्मध्यमग्रामे षड्जग्रामे चतुर्दश ।
तानाः पञ्चदश प्रोक्ता गान्धारग्राममाश्रिताः ॥"

इति । भरताचार्यस्तु स्वशास्त्रे प्रयोगाङ्गतया-गीतोपयोगिनः षड्ज-मध्यम-ग्रामयोरनुलोम-षाडवौडवाभ्यां चतुरशीतिमथ तानानुक्तवान् ॥ ८८ ॥ अस्माभिश्च कश्यप-मतंग-तुम्बरु-विशाखिलाद्याचार्य-निखिल-मुनि-वचनाद् ग्राम-त्रयेऽप्यनुलोम-विपर्ययात् ॥ ८९ ॥

स्प०—(८७-८९) वाक्य ८७-८९ MS. प० १५ ऊपर पुनरुक्त हैं, उनका पाठ शुद्ध होने से वे यहाँ उद्धृत किये हैं। वाक्य ८६ के पश्चात् क्रमशः आये हुए वचन [प० १४ ऊपर] निम्नानुसार हैं :—

नारदेन यज्ञस्तं स्तत्रपानयकतया कृम्रा मत एकोनपञ्चाशदेव तानाः प्रदर्शिताः ॥ ८७ ॥ . प्रयोगाङ्गतया पुनरुक्ते पञ्चविंशतिभिः सह ग्रामद्वये... रेवोक्ताः ॥ ८८ ॥ अस्माभिस्तु त्रिशाखिलाद्याचार्य-प्रोक्तैकं ग्रामिक पञ्चसहस्र तानस्य रागोत्पत्ति-हेतुतयाऽसंख्यंभं ग्रामत्रयेऽप्युपदर्शितस्तानभेदः ॥ ८९ ॥

M : १–यज्ञः २ तेना

न तु ग्राम-त्रैये सम्पूर्ण-पञ्च-सहस्र-ताना वृद्धा दृ
नवनवत्यधिक-पञ्च-सहस्र-तानेषु षड्जग्रामतानानामेव पु
रुक्तत्वम् ॥ ९० ॥ मध्यम-गान्धार-ग्राम-तानानां ततः कि
तामेव पुनरुक्तत्वम् ? पुनरुक्तास्तु वहवस्तत्र तेषामुपादानमि
प्रयोजनम् ॥ ९१ ॥

अत्रोच्यते— ग्रामं-भेद एवं श्रुति-भेद-निबन्धनः ।
यदाहुः—“यदाऽन्योन्य-विपर्यस्त-श्रुती पञ्चमधैवतौ । तदा तं
मध्यमग्रामं प्रवदन्ति मनीषिणः ।” इति ॥ ९२ ॥

अतः श्रुतेः प्राधान्यात् तन्निबन्धनो भेदः । सर्वत्र
संप्रयुक्त एकं-रूपतः पुनरुक्तत्वेऽपि ग्राम-भेदा....न श्रुत्यनु-
सारेण तान-भेदस्य स्पष्टतरत्वादेतस्मिन् रागोत्पत्ति-हेतुत्वमेव
न स्यात् ॥ ९३ ॥

ननु मामूदेवं पुनरुक्तानां रागोत्पादकत्वम् । ननु
षाडवौडव-चतुःस्वराणां पञ्चसहस्राणीति वचनात् ॥ ९४ ॥

अतोऽनर्थकं षाडवौडव-चतुःस्वर-संख्या-कथनम् ।
अत्रोच्यते— पञ्चसहस्राणीति । ....पूर्ण-स्वराभिप्रायेण पुनर-
न्यस्य व्यवच्छेदात् । चतुःस्वर-योग-प्रयोगस्यापि दर्शितत्वात् ॥
यदाह भरतः — “षट्-स्वरस्य प्रयोगोऽस्ती”ति । ‘जातिभ्यो
राग-सम्भव’ इति मुनि-वचनाज्जातीनां दश-लक्षणत्वेन
षाडवौडव-कृतत्वादत्रापि सुव्यक्तम् ॥ ९५ ॥ षाडवौडवयो
रागोत्पादकत्वं अतो...सादिभिर्लक्षणैः, बिन्दु-कुहरादिभिरल-
ङ्कारैस्तिरिपादिभिर्गमकैः । दीप्तादिभिरनुरञ्जिकाभिर्मूर्च्छना-
भिश्च व्यक्तिभिः ॥९६॥ सम्पूर्णस्वर-ताना ग्राम-राग-मूल-रागाः,

M: १ था- २-वं ३-म ४ सववं ५-मे ६-वं ७-प ८ धिप ९ [illegible]
१०-दिति ११-के १२ सां

षट्स्वर-ताना भाषा-विभाषाः । पञ्चस्वर-ताना अन्तरभाषा-श्चतुःस्वर-तानाः क्रियाङ्ग-रागानुत्पादयन्ति, इति स्थितम् ॥९७॥

यद्यपि च प्रतिग्रामं षाडवं सम-वर्जितं (?).... षाडवाः । पञ्चदशौडवाः । प्राप्तास्तथा ह्याप्तोपदेश-सिद्ध-त्वादिति ॥ ९८ ॥

मुनि-वचनाद् यथोक्त-षाडवौडव-व्याप्तिर्भी रोचति तदभियुक्तैरूहनीयम् ॥ ९९ ॥

अथ प्रस्तारः—

सरिगमपधनीति षड्जग्रामे विनिवेशयेत् स्वरानु-क्रमशः । जानीयात्तैतेषां क्रमादितोऽष्टतां (?) कनिष्ठ-त्वम् ॥ १०० ॥

एवं यष्टाविक्रम-(?)—मादायारोपयेत् स तान् यथासंख्यम् । अपि मध्यम-गान्धार-ग्राम-द्वितये च सर्वदा विद्वान् ॥ १०१ ॥

आदि-स्वरस्य संख्या विंशत्यधिकेह भवति सप्तशती ।
कथिता स्वर-संख्या विंशत्यधिक-शतं द्वितीयस्य ॥ १०२ ॥

ख्यातश्चात्र चतुर्विंशति-संख्याकः स्वरस्तृतीयोऽपि ।
षट्-संख्या-गुणित....स्वरश्चतुर्थे स्थितस्तथा स्थाने ॥ १०३ ॥

स्थाने च पञ्चमे यः स्थितः स्वरोऽसौ.... ।
अथ षष्ठ-सप्तमौ च स्वरौ यथा-क्रम-विपर्ययौ ज्ञेयौ ॥
एवं प्रस्तार-विधौ स्वर-विनिवेशं विजानीयात् ॥ १०४ ॥

४ अथ नारदोक्त-तानवर्णन-प्रकरणं चतुर्थम्

अथ तानानाम्—

M: १ अनन्तर २-ष्या- ३-तै-

....तेषु यज्ञेषु तानेन स्तोत्रं प्रवर्तते ।
तथा तानस्य प्रशम-कर्म-नामा च ये कचित् ॥ १०५ ॥
स्तोत्र-कर्तृ-प्रिय-नामा केषां .... ।
सादृश्यात्कस्यचिन्नाम, निरुक्तं नेन नोदितम् ॥ १०६ ॥

षाडवौडव-चतुःस्वराणां तानानां यथासंभवं भेदोऽभिहित एव सम्प्रति ग्राम-त्रयेऽपि नारदोक्तैकोनपञ्चाशतां नामानि प्रदर्शयिष्यामः ॥ १०७ ॥

नामानि च षड्ज-मध्यम-ग्रामयोरनुलोमे षाडवौडवाभ्यां भरताभिहित-चतुरशीति-तानेभ्यो निरन्तरैकान्तर-विवाद-पुनरुक्त-त्यागात् चतुर्विंशतिः ॥ १०८ ॥

गान्धार-ग्रामेऽप्यनुलोम-षाडवौडवाभ्यां पञ्चत्रिंशत्तानेभ्यः पञ्चदशानामेव; तद्यथा—

प्रस्तारकोऽथ पैशाचो जीवः सावित्र एव च ।
अर्धसावित्र-नामा च सर्वतोभद्र एव च ॥ १०९ ॥

स्वर्णो विष्णुश्च जिष्णुश्च तथा विष्णुकरः स्मृतः ।
शारदश्चाथ विजयो हंसो ज्येष्ठस्तथैव च ॥
षड्जग्रामे भवन्त्येवमेते तानाश्चतुर्दश ॥ ११० ॥
एकपादश्च वायुश्च दानोऽग्निष्टोमिकस्तथा ।
वाजपेयिक-नामा च पौण्डरीकाश्वमेधिकौ ॥ १११ ॥
राजसूयक-नामा च बहुसौवर्णिकस्तथा ।
तथा चौपाधिकः प्रोक्तो महाव्रतिक एव च ॥ ११२ ॥

स्प०— [१०६] श्लोक १०६ के पश्चात् MS. में "तत्र नारदेन स्तोत्रयज्ञोपियोगित्या०" इत्यादि वचन आये हैं, जो प्रथम क्र० ८७ से ८९ तक ऊपर उद्धृत किये हैं ।

M: 1 सा 2 ताना 3-रे- 4 विजेयो 5 प्याद्द० 6-द्रौष 7 गिरे 8 श्र

ब्रह्मचारिकनामा च प्राजापत्यभिधस्तथा ।
गौदानिको हयकान्तः स्यादजक्रान्त एव च ॥ ११३ ॥
विष्णुक्रान्तोऽरण्यपत्रः कोकिलो जीवकस्तथा ।
ताना विंशतिरित्येते मध्यमग्राम-सम्भवाः ॥ ११४ ॥
तुम्बुरुप्रिय-नामा च महालक्षण एव च ।
गन्धर्वानुमतश्चैव तथैवालम्बुषप्रियः ॥ ११५ ॥
नारदप्रिय-संज्ञोऽथ भीमसेनप्रियस्तथा ।
विनतश्चैव मातंगो भार्गवप्रिय एव च ॥ ११६ ॥
अभ्रागमोघसंस्तुत्यः किंनरप्रिय-पुष्पकौ ।
मनोहरोऽथ विज्ञेयः कल्याणकर एव च ।
तानाः पञ्चदशैवैते गान्धारग्राम-संश्रिताः ॥ ११७ ॥
तत्र षड्जग्रामे षाडव-चतुष्टयमौडव-त्रयं च ।
यथाऽऽह भरतः,

"षड्जर्षभ-पञ्चम-निषादवर्ज्जिताश्चत्वारः षाडवास्तानाः षड्ज-ग्रामे ॥ ११८ ॥"

षड्ज-पञ्चम-हीनम् । ऋषभ-पञ्चम-हीनम् । गान्धार-निषादवर्ज्जीनमित्यौडवत्रयमिति ॥ ११९ ॥

मध्यमग्रामे तु षाडवत्रयमौडव-वर्ज्यं च । यथाऽऽह—"षडजर्षभ-गान्धार-हीनास्त्रयः षाडवास्तथा गान्धार-निषाद-वर्ज्जीनमृषभ-धैवत-हीन-मित्यौडव-द्वयमिति ॥ १२० ॥

अत्र नारदोक्त-मध्यमग्रामिकोक्त-विंशति-ताना निदर्श्यन्ते । तथा हि— षड्जहीने निरन्तरैकान्तर-विवादि-पुनरुक्त-योगास्त्रयस्ताना यथा— 'निरिगमधे'त्येकपादः । 'रिगमपधनी'ति वायुः । 'गमपधनिरी'ति हि दानः ॥ १२१ ॥

Ad (१२०) ll. २८।३६ pb

M: १ जे– २ का– ३–ध– ४ –द ५–दः ६–णः ७ ऋभस ८ त्रय ९ वा पुनः १० ताए

ऋषभ-हीने— ऋषभा.....देवाविरोधे चतुष्टयं नास्तीति पुनरुक्तैक-योगात्; तानषट्कमेव ॥ यथा—'मपधनिस [1] गे'त्यग्निष्टोमिकः । 'पधनिसगमे'ति वाजपेयिकः । 'धनिसगमपे'ति पौण्डरीकः । 'निसगमपधे'ति चाश्वमेधिकः । 'सगमपधनी'ति राजसूयः । 'गमपधनिसे'ति बहुसौवर्णिकः ॥ १२२ ॥

गान्धार-हीने स्वरेऽपि यथा 'मपधनिसरी'त्यौपाधिकः । 'पधनिसरिमे' इति महाव्रतिकः । 'धनिसरिमप' इति ब्रह्मचारिकः । 'निसरिमपध' इति प्राजापत्यः । 'सरिमपधनि' इति गौदानिकः । 'रिमपधनिस' इति हयकान्तः । एवं षाडवे पञ्चदश ॥ १२३ ॥

निषाद-गान्धार-हीनमौडवितं षड्जग्रामे भविष्यतीति पुनरुक्तत्वान्न कथितम् ॥ १२४ ॥

ऋषभ-धैवत-हीने तु पुनरुक्त-द्वय-योगात् पञ्च ताना यथा—'सगमप [2] नि' इति विष्णुः । 'गमप [5] निस' इति.... । 'मप [5] निसग' इति.... । 'पनिसगम' इति शारदः । निसगमप' इति विजयः । त इमे विंशतिर्मध्यमतानाः ॥ १२५ ॥

अथ षड्जग्रामे । तत्र षड्जर्षभ-हीनं द्वयं मध्यमग्राम एवोक्तमतो नेह कथितम् । पञ्चम-हीने.....चैका पुनर्विवादिपुनरुक्तयोगो........मेव ॥ १२६ ॥

यथा—'गम [11] धनिसरि' इति प्रस्तारः । 'निसरिगम [12] ध' इति पैशाचः ॥ १२७ ॥

M १ सरिग २ मपि ३ धनि ४ म ५ म ६ ग ७ ध ८ ध ९ ध १०-नरत्रि- ११ प १२ प

गान्धार-निषादवर्ज्जीनौडवे तु पुनरुक्त-परित्यागात् पञ्च तानाः । यथा—'सरिमपध' इति जीवकः । 'रिमपधस' इति सावित्रः । 'मपधसरि' इत्यर्धसावित्रः । 'पधसरिम' इति सर्वतोभद्रः । 'धसरिमप' इति सौवर्णः ॥ १२८ ॥

ननु षड्जर्षभ-हीन-षाँडवयोर्मध्यमग्रामेण पुनरुक्त-त्वात्कुत्र तानोपादानम्? म-हीन-षाडवान्तर-प्राप्त-नि-हीन-षाडव-कथने तु को हेतुः? उच्यते—खलु सम्भवादत्र तानोपादानम् । तथा सति गान्धारग्रामेऽप्येकादशौडव-कथन-प्रसङ्गः । किन्तूनपञ्चाशद् येषां नामानि त इमे समुदीरिता इति न दोषः ॥ १२९ ॥

अथवा यथोक्तं नारदीय-शिक्षा-विवरण-टीका-कृतानि नि-ग-हीनौडव-कृत-पञ्चानां नामानि नि-हीन-षाडव-कृत पञ्च-तानानामतो न पृथगभिधानमिति न दोषः ॥ १३० ॥

ऋषभ-धैवत-हीनौडवितानां न पृथगभिधानमिति न दोषोऽस्ति; पुनरुक्त-परित्यागात् ॥ १३१ ॥

पञ्च ताना यथा—'मपनिसग' इत्यजकान्तः । 'पनि-सगम' इति विष्णुक्रान्तः । 'निसगमप' इति रैक्तपत्रः । 'सग-मपनि' इति कोकिलः । 'गमपनिस' इति जीवकः ॥ १३२ ॥

षड्ज-पञ्चम-हीने तु निरन्तरैकान्तर-विवादि-पुनरुक्त-त्यागात्तानद्वयमेव । यथा—'गमधनिरि' इति हंसः । 'निरि-

M: १ तस्मा २-नः ३-ष्य ४ र्ष- ५-६ क्व- ७ मात्रानु- ८ दृताऊ-९-तं १०-त्ति ११ म्यतो १२ अं १३ षम १४ तोनि १५-षा पि १६ षोरंयमितः १७ मी १८ ग १९-कानुरति २० मा २१ प २२-षाः

गमध' इति .... । त एते षाडवौडवाभ्यां चतुर्दश तानाः षड्जग्रामे ॥ १३३ ॥

अथ गान्धारग्रामे—धैवत-हीने तु पुनरुक्तैक-योगात् षट् तानाः । यथा—'गमप[1] निसरि' इति तुम्बुरप्रियः । 'मपनिसरिग' इति महालक्षणः। '[2]पनिसरिगम' इति गन्धर्वानुमतः । 'नि[3]सरिगमप' इत्यलम्बुषप्रियः । 'सरिगमप[4]नि' इति भीमसेनप्रियः ।'रिगमप[4] नि' इति नारदप्रियः ॥ १३४ ॥

[5]षड्जर्षभ-हीने तु क्रमो दत्तोऽयं ग्राम इति नीच-स्वरः (?)। धैवत-तान-परित्या[6]गात्तान-चतुष्टयमेव । यथा—'गमपधनि' इति विनतः । 'मपधनिग' इति मातंगः । 'पधनिगम' इति भार्गवप्रियः । 'निगमपध[7]' इत्यँभ्रागमः ॥ १३५ ॥

षड्ज-धैवत-हीनौडवेऽपि पञ्चैव । यथा—'गमप[8]निरि' इति संस्तुत्यः । 'मपनिरिग[9]' इति किन्नरप्रियः । 'पनिरिगम' इति पुष्पकः । 'निरिगमप' इति मनोहरः । 'रि[10]गमपनि' इति कल्याणकरः । इत्येवमेता गान्धारग्रामे पञ्चदश तानाः ॥१३६॥

एवं ग्राम-त्रयेऽप्यूनपञ्चाशन्नारदोदिताः ।
तानाः प्रदर्शिताः सम्यगस्माभिर्नामतः पृथक् ॥१३७॥
सामगाने प्रयुज्यन्ते ताना यज्ञोपयोगिनः ।
गीतोपयोगिनस्ताना भरतेनोपदर्शिताः ॥ १३८ ॥

षड्ज-मध्यमयो......प्यनुक्रमात् ।
चत्वारस्त्रय इत्येवं भवेयुः सप्त षाडवाः ॥ १३९ ॥
षड्जेग्रामे तु षड्जेन पञ्चमेनर्षभेण च ।
निषादेन विहीनं च विज्ञेयं षाडवं बुधैः ॥ १४० ॥

M १ ध २ स ३ पि ४ ध ५ सड्जक्य ६ या ७-सभागमः ८ प ९ म १० नि

मध्यमाख्ये तथा ग्रामे सरिगैस्तु त्रिभिः स्वरैः ।
प्रत्येकं सप्त तानास्तु कृत्वा संख्येति जायते ॥ १४१ ॥

तानानां तूनपञ्चाशद् ग्रामयोः षड्ज-मध्ययोः ।
औडवाश्चात्र पञ्चैव ग्रामयोरुभयोरपि ॥ १४२ ॥

षड्जेन पञ्चमेनाथ पञ्चमेनर्षभेण च ।
गान्धारेण निषादेन हीनमौडवित-त्रयम् ॥ १४३ ॥

षड्जग्रामे मध्यमाख्ये ग्रामे चौडवित-त्रयम् ।
विना निषाद-गान्धारौ स्वरावृषभ-धैवतौ ॥ १४४ ॥

प्रत्येकमौडवे सप्त तानाः कृत्वेह जायते ।
पञ्चत्रिंशत्तान-संख्या ग्रामयोरुभयोरपि ॥ १४५ ॥

एवं चतुरशीतिः स्युस्ताना भरत-संमताः ॥ १४६ ॥

५ — इत्यथ गान्धारग्रामेऽपि ब्रूमहे पुनः ।
कश्यपादि-मतेनात्र तानसंख्यामनुक्रमात् ॥ १४७ ॥

षड्जेन चर्षभेणाथ धैवतेन स्वरेण च ।
हीनं गान्धारग्रामेऽपि विज्ञेयं षाडव-त्रयम् ॥ १४८ ॥

षड्जर्षभौ स-धैवतौ गनी चैवौडव-द्वयम् ।
कृत्वा सप्तैव तानाः स्युः प्रत्येकं षाडवौडवे ॥ १४९ ॥

पञ्चत्रिंशद्भवं तत्र ताना ग्रामेऽनुलोमतः ।
एवं ग्राम-त्रये एकोनविंशत्यधिकं शतम् ।
तानानामनुलोमेन ज्ञेयमेतन्मनीषिभिः ॥ १५० ॥

'तनु' विस्तार इत्यस्माद्धात्वर्थः कर्तरि स्मृतः ।

षड्जर्षभ-पञ्चम-निषादानां, षड्जर्षभ-गान्धाराणां

M· १ सूत- २ उ- ३ षाडेनमौ- ४-५ ६ षड्ज ७ म ८ ये ९-मेकम्

क्रमात् षड्जमध्यमग्रामयोः सप्त चौडवा........एकोनपञ्चाशत्सम्पद्यन्ते । एतदभिप्रायेण नारदाचार्येणाप्युक्तम् —

"तानाश्चैकोनपञ्चाशदित्येवं स्वरमण्डलम्" इति ।

(अन्ये तु) नामाभिप्रायेण चैतद्व्याचक्षते ।

"विंशतिर्मध्यमग्रामे षड्जग्रामे चतुर्दश ।

तानान्पञ्चदशेच्छन्ति गान्धारग्राममाश्रितान् ॥"

नामानि चाधुना वक्ष्याम्येतेषां ग्राम-भेदतः ॥ १५१ ॥

भरतेन तु षड्ज-पञ्चमाभ्यां निषाद-गान्धाराभ्यां विना षड्जग्रामे; ऋषभ-धैवताभ्यां निषाद-गान्धाराभ्यां विना मध्यमग्राम इति पञ्चौडवित-तानानां सप्तक-गुणनया पञ्चविंशतिरिति पूर्वाभिहितः पञ्चाशत् मिलिताश्चतुरशीतिरुपदर्शिताः । अस्माभिस्तु गान्धारग्रामस्या.....त-स्वरतायां काश्यपादिभी रागा अभ्यनुज्ञाता इति ग्रामत्रयेऽपि पूर्ण-षाडवौडविताविं........ताने विस्तर एव स्वीकृतः ॥१५२ ॥

यथा—

प-रि-हीनं स-प-त्यक्तं नि-ग-हीनमिति त्रयम् ।
औडवाः; षाडवाः षड्ज-पञ्चमर्षभ-सप्तमैः ॥ १५३ ॥
हीनाश्चत्वार एव स्युः षड्जग्राम-समुद्भवाः ॥
षड्जर्षभ-हीनं च त्यक्तं गान्धार-सप्तमम् ॥ १५४ ॥
औडव-द्वितयं, षड्ज-गान्धारर्षभ-वर्जितम् ।
औडव-त्रितयं च स्यान्मध्यमग्राम-सम्भवम् ॥ १५५ ॥
ध-हीनं षाडवश्चैको स-ग-हीनं ग-नि-च्युतम् ।
म-प-हीनं स-म-त्यक्तं रि-ध-हीनं ध-नि-च्युतम् ॥१५६

F: ৯. ११२।११८

स-प-हीनं ग-धापेतं प-ध-हीनं प-रि-च्युतम् ।
ध-नि-संत्यक्तमित्येकादश-संख्यानि सर्वदा ॥ १५७ ॥
गान्धारग्रामिकाश्चाहुरौडुविता मनीषिणः ।
गान्धारग्राम-वर्जं तु ग्रामयोरुभयोरपि ॥ १५८ ॥
षड्जादि-मध्यमादिश्च संख्या पूर्ण-स्वरे द्वयी ।
सम्पूर्ण-स्वर-पर्यन्तं तु पूर्वोक्त-स्वरादितः ॥ १५९ ॥
क्रमोक्तमविपर्यासात्तानसंख्या विधीयते ।
त्रिस्वरस्य प्रयोगे तु [1] दशोत्तरं-शत-द्वयम् ॥ १६० ॥
चतुःस्वरेष्वपि ह्युक्तं सार्धं-शत-चतुष्टयम् ।
औडवेषु च विंशत्या प्रत्येकमधिकं शतम् ॥ १६१ ॥
तथा सप्तशतानीह विंशत्यभ्यधिकानि च ।
जायन्ते षड्विधास्तानावसूयप्रन्मता (?) ॥ १६२ ॥
पूर्णे पञ्च-सहस्राणि त्रयस्त्रिंशत्पराणि च ।
इति द्वि-त्रि-चतुर्योगे विज्ञेयं गान-योक्तृभिः ॥ १६३ ॥
एक-ग्रामेषु सहिता प्रोक्ता सप्त-शती मया ।
स्यादेकविंशतिः शती चतुर्विंशतिर्ग्रामगा ।
ग्राम-त्रये च स्यात् पूर्व-संख्या त्रैगुण्य-योगतः ॥१६४॥
ग्राम-त्रये पौनरुक्त्या षाडवौडवितेष्वथ ।
........विंशतिः शती विंशत्यभ्यधिका सदा ॥ १६५ ॥
षाडवे चाष्टसु (?) ग्राम-त्रये पुनरुक्तितः ।
पष्टयत्व — — भवेत्सप्त-पञ्चाशैदधिका तथा ॥ १६६ ॥
........धिका ज्ञेया दश-साहस्रिका यथा ।
पूर्ण-स्वर-प्रयोगे तु ग्राम-द्वय-समुद्भवा ॥ १६७ ॥

M: १ विपर्यासाद् २- रं ३ कामका ४ दातमभिष्यका

इति सप्तति-युक्ता स्यादष्टशती तैस्त्र्यधिका ।
ऊनविंशतिः साहस्त्री तानाः स्युः समुदायतः ॥१६८॥

सम्प्राप्त-प्रतिराज-मण्डल-भयो मूर्च्छाल-कण्ठामर –
ग्रामोद्गीत-गुणोदयो दिशि दिशि प्रोत्ताल-दान-ध्वनिः
श्रुत्युत्कर्ष-कृतो नतित....धिया सुव्यक्त-बोधाप्तये ।
तानाध्यायमचीकरन्नरपतिः क्ष्मापालनारायणः ॥१७०

इति महासामन्ताधिपतिधर्मावलोक-श्रीमन्नान्यपति-
विरचिते सरस्वती-हृदयालङ्कारे तानाध्यायः
समाप्तः ॥



पञ्चमोऽलङ्काराध्यायः ।

१ अथ प्रथमं वर्णालङ्कार-प्रकरणम्

वर्णा एव हि जातीनां देहा इत्यभिधीयते ।
अलङ्काराय; तद्वक्ष्ये वर्णानामेव लक्षणम् ॥ १ ॥
आरोही चावरोही च स्थायि-सञ्चारिणौ तथा ।
वर्णाश्चत्वार एवैते ह्यलङ्कारास्तदाश्रयाः ॥ २ ॥
आरोहन्ति स्वरा यत्र ह्यारोहीति स कीर्तितः ।
यत्र चैवावरोहन्ति सोऽवरोहीति भण्यते ॥ ३ ॥
स्थिताः स्वरा समास्तत्र स्थायी वर्णः स उच्यते ।
सञ्चरन्ति स्वरा यत्र स सञ्चारीति कीर्तितः ॥ ४ ॥
सञ्चारि-स्वर-पर-भूताः(?) त्रिस्थान-स्वर-गाः.... ।
चत्वारो लपगोपेता ....स्वेवं षोडश स्मृताः ॥ ५ ॥
"शशिना रहितेव निशा, विजलेव नदी, लता विपुष्पेव ।
अनलङ्कृतेव नारी गीतिरलङ्कार-शून्या स्यात्" ॥ ६ ॥
निष्कूजितः सहुंकार-हसितो बिन्दुरेव च ।
प्रेङ्खोलितस्तथा क्षिप्तो विधुतोद्वाहितौ तथा ॥ ७ ॥

टी०:—(१—१७) i. नान्यदेवोक्त अलंकारों की संख्या इस प्रकार होगी:—आरोही = १४; अवरोही = ५; स्थायी = ७; संचारी = १४ कुल मिलकर ४० होते हैं। तदुपरान्त सर्व वर्णग १३ कहे हैं। अलंकारों के कतिपय नाम पुनरावर्तित होते हैं, उनको घटा देने से अलंकारों की वास्तविक संख्या ३३ हो जाती है, जो निम्नानुसार है:—

१ निष्कूजित, २ बिन्दु, ३ हुंकार, ४ हसित, ५ विधूत, ६ ह्रादमान, ७ प्रेङ्खोलित, ८ आक्षिप्त, ९ उद्वाहित, १० संप्रदान, ११ संधिप्रच्छादन,

---

Ad, (६) ɒ. ३५। ६०

F. (७) M. ११०; B. २८।२७ का. pb: 'विधूर्णोऽदितिं'

M: १- मलंकार-सहितं २-ए-

ह्लादमानः संप्रदानः सन्धिप्रच्छादनस्तथा ।
प्रसन्नादिः प्रसन्नान्तः प्रसन्नाद्यन्त एव च ।
........................इत्यारोहे चतुर्दश ॥ ८ ॥

विधूतो गात्रवर्णश्च तथोद्वाहित एव च ।
उद्गीतश्च तथा वेणुर्विज्ञेयाश्चावरोहिषु ॥ ९ ॥

प्रसन्नादिः प्रसन्नान्तः प्रसन्नाद्यन्त एव च ।
°(प्रसन्नमध्यश्च तथा क्रम........एव च ।)
प्रस्तारश्च प्रसादश्च सप्तैते स्थायि-वर्णगाः ॥ १० ॥

---

१२ प्रसन्नादि, १३ प्रसन्नान्त, १४ प्रसन्नाद्यन्त, १५ प्रसन्नमध्य, १६ गात्रवर्ण, १७ प्रस्तार, १८ प्रसाद, १९ मन्द्र, २० कंपित, २१ सम, २२ कुहर २३ वेणु, २४ रंजित, २५ उपलोलक, २६ प्रावर्तक, २७ परावृत्त, २८ उद्गीत, २९ मन्द्रतार, ३० तारमन्द्र, ३१ क्रम, ३२ रेचित, ३३ संनिवृत्तःप्रवृत्त ।

ii. नाट्यशास्त्र में अलंकार-संख्या तैंतीस कही हैः—

'अलङ्कारास्त्रयस्त्रिंशदेवमेते मयोदिताः' (क्षा०) । मतंग ने भी तैंतीस संख्या बतायी है तथा संदर्भ में भरत का श्लोक उद्धृत किया हैः—

'इदानीं सुप्रसिद्धास्त्रयस्त्रिंशदलङ्कारा नामतः प्रयोगतश्च कथ्यन्ते ।'

'अलङ्कारास्त्रयस्त्रिंशदेवमेते मयोदिताः ।
नोदिता अपि तेऽप्यत्र प्रत्येतव्या मनीषिभिः ॥ १७० ॥'

इस विषय में ना० शा० के अनेक श्लोक मतंग ने उद्धृत किये हैं, जो अधिक शुद्ध भी हैं ।

iii. ना० शा० के पाठभेद तथा अशुद्धि के कारण अलंकारों के कतिपय नाम प्रकारान्तर से दिये गये हैं, जैसा किः—निष्कूजित = निष्कर्ष; उद्गीत= ऊहित; उपलोलक = अवलोकित; अत्युच्चय, व्यालित, प्रस्तार इत्यादि ।

F: (९) B. २९।२९ का०; M: १३२
F: (१०) B. २९।३३, ३४; M. १३५, १३६

M: १ नि २ केलि ३ ह्यचारिषु

मन्द्रस्तथा प्रसन्नादिः प्रेङ्खितो विन्दुरेव च ।
सन्निवृत्तः प्रवृत्तश्च रेचितः कम्पितः समः ॥ ११ ॥
कुहरश्चैव वेणुश्च रञ्जितश्चोपलोलकः ।
आवर्तकः परावृत्तः सञ्चारिणि चतुर्दश ॥ १२ ॥
प्रसन्नादिः प्रसन्नान्तो विन्दुः कम्पित-रेचितौ ।
प्रेङ्खोलितस्तारमन्द्रो मन्द्रतारः समस्तथा ॥ १३ ॥
सन्निवृत्तः प्रवृत्तश्च प्रसादाख्यस्तथैव च ।
तथोपलोलको वेणुरित्येते सर्ववर्णगाः ॥ १४ ॥

---

iv. रत्नाकर ने ६३ अलंकार इस प्रकार बताये हैं:— स्थायी ७+आरोही १२+अवरोही १२+संचारी २५+अन्य ७=६३ (११६)

सामसंगीत में प्रयोज्य 'वर्ण' एवं कुछ गमकसदृश स्वर-योग पुष्पसूत्रादि ग्रंथों में कहे हैं, जिनमें से कुछ नीचे उद्धृत किये हैं:—

(१) प्रत्युत्क्रमः— स रे, रे ग, ग म, इ०

रत्नाकर ने इसको प्रेङ्खित नाम दिया है। इस प्रकार के स्वरयोग को पाश्चात्य संगीत में *attack* अथवा *initial step* कहते हैं। 'खटका' गमक में यह स्वरयोग प्रयोज्य होता है।

(२) रोहः— सरे; सरेग; सरेगम इ०; यह आरोही वर्ण होगा।
(३) अतिक्रमः— स-ग, स-म, स-प इ०



(४) उद्घातः— म गाऽ। पाश्चात्य संगीत में appoggiatura (downward) प्रयोग इसी के समान होता है।

F: (१२) B. २५।२५, २६ pb; B. १२८, १२९ pb.
(१३ ,१४) B. २५।३३, ३४ pb ; M. १३३, १३४

M: १-हु २-श्च ३-केका ४-रका- ५- बलोकाका

यानि देवताऽलङ्कार-भेद-जातानि तानि तु ।
योज्यानि सर्वगान्धर्वे सप्तगीतिषु जातिषु ॥ १५ ॥

यत्तु भरताचार्येणोक्तम्—

"सप्तरूप-गता ज्ञेया अलङ्कारा बुधैस्त्विमे ।
°(न नियोज्या ध्रुवास्वेते द्युति-वर्ण-प्रकर्षणात्) ॥ १६ ॥

तत्र सप्तरूप-शब्दः सकल-गान्धर्व-जात्युपलक्षणस्तथा हि सप्तरूप-गता ह्येवेति नियमादेव ध्रुवास्वलङ्कार-निषेधः सिद्ध एव करोति, तन्निषेधं च न नियोज्या ध्रुवास्विति द्यौति-वर्ण-प्रकर्षणादित्येतदेवोपलक्षणे कारणमिति ॥१७॥

---

(५) उद्ः— ऊर्ध्वस्थ संवादी स्वर को उक्त संज्ञा दी गयी है ।

(६) गतिः— अक्षर को इ, ऊ स्वर लगाना; जैसा किः— 'हो'= होइ होउ ।

(७) अतिहारः— मन्त्राक्षर को स्तोभाक्षरों द्वारा बढ़ाना, जैसा किः— 'बर्हिषी' मन्त्र-शब्द है, उसके 'ब' को सामगान में 'बा औ होवा' किया जाता है, जो अतिहार ही है ।

(८) कर्षणः— मग, मगरे, मगरेस । यह स्वर-क्रिया 'मींड' के समान प्रतीत होती है ।

(९) विनतः— गाऽम, माऽग ।

(१०) पर्वन्ः—एक साथ गाया जा सके, ऐसा गान-विभाग (Phrase) । विशिष्ट अवरोही स्वर-युग्म को विनतादि संज्ञा दी गयी हैः—

मग=विनत; गरे=प्रणत; सध=उत्स्वरित; गम=अभिगीत १० ।

ना० शि० में गमकों का निर्देश उपलब्ध नहीं है । कानून-जातिक वीणा में गमकों के प्रयोग की गुंजाइश भी कम है ।

Ad: (११) p. २९।३० pb.

M: १ पै-२ योग्या- ३ स्वरांशकाः ४ श्रुति-

२ अथ द्वितीयं गमक-प्रकरणम् १

गमकानामतो वक्ष्ये नाम-लक्षण-संयुतम् ।
स्फुरितं कम्पितं लीनं तिरिपान्दोलिते तथा ॥ १८ ॥
आहतं च त्रिभिन्नं च गमकं नाम सप्तधा ।
तारे मन्द्रे च दीप्ते च स्वर-स्थाने च युज्यते ॥
स्वर-क्रमेण गृह्णीयादिदं गमक-लक्षणम् ॥ १९ ॥
स्वरे स्वरे स्फुरेद्दीप्ते स्फुरितं गमकं च तत् ।
त्रिस्थाने कम्पितो यस्तु कम्पितो गमकः स्मृतः ॥ २० ॥
तथा गति-समायुक्तो लीनं गमकमिष्यते ।
सर्व-स्वर-सुसंवादी तिरिपो शीघ्रगः स्मृतः ॥ २१ ॥

टी०१—(१८–२३)। नान्यदेव ने गमक ७ प्रकार के बताये हैं। गमकों का वर्णन वृ० दे० में उपलब्ध नहीं है। परन्तु वृ० दे० के राग वर्णन में 'स्फुरित' गमक का निर्देश पृ० १२९ पर आया है। तदुपरान्त राग तथा प्रबन्धों के वर्णन में कहे हुए 'बिन्दु' एवं 'मूर्च्छना' दोनों गमक प्रकार ही होंगे, ऐसा प्रतीत होता है —

'बिन्दुभिर्गमकैर्युक्ता चन्द्रिकेति प्रकीर्तिता ॥ ४७९ ॥'

'पञ्च पाद समायुक्ता मूर्च्छना गमकान्विता ॥ ४८४ ॥'

ना० शा० में 'बिन्दु' धातु-प्रकारों में वर्णित है —

'गुर्वक्षर कृता तन्त्री बिन्दुरित्यभिसंज्ञित ॥ २९।६९ ॥'

रत्नाकर द्वारा 'बिन्दु' एवं 'मूर्च्छना' प्राचीन वीणा-वादन के प्रकरण में वर्णित हैं। (६।७८,८४) 'मूर्च्छना' प्रचलित 'घसीट' गमक के समान प्रतीत होता है —

'स्वर स्थाने द्रुत कम्प्रासारण मूर्च्छना मता ॥ ८४ ॥'

१ पार्श्वदेव द्वारा कथित सप्त गमक नान्यदेवोक्त के अनुसार ही हैं (१।४७–५५)। गमक की रत्नाकरोक्त व्याख्या— 'स्वरस्य कम्पो गमकः श्रोतृ-चित्त सुखावह' (२।८७) सर्व विदित है। रत्नाकर ने पन्द्रह गमक बताये हैं, उनमें अधिकाश गमक काल मान द्वारा समझाये हैं। सोमनाथ ने उन्नीस गमक कहे हैं और उनकी क्रिया की रीति तथा स्वर लेखन भी दिया है, जो

M: १ कथितो २ स्वर

आन्दोलयेत् स्थितं नादं गमकं दोलितं च तत् ।
आहतं हन्ति यः सर्वान्स्वरान्शीघ्रं पुनः पुनः ॥ २२ ॥
स्थाने मन्द्रे ततस्तारे स्वर उद्दीपितस्तु सः ।
उद्दीप्यते च तत्स्थाने त्रिभिन्नं दुष्करं मतम् ॥ २३ ॥

३ अथ तृतीयं स्वर-जाति-रस-देवतादि-प्रकरणम्

रसाश्छन्दांसि देवाश्च ये चास्मिन्गीतके स्थिताः ।
स्वर-जात्यंशक-द्वारा तानिदानीं प्रचक्ष्महे ॥ २४ ॥
मध्य-पञ्चम-भूयिष्ठं कार्यं शृङ्गार-हास्ययोः ।
षड्जर्षभ-प्रायमपि वीर-रौद्राद्भुतेषु च ॥ २५ ॥
गान्धार-सप्तम-प्रायं करुणेन गमिष्यते ।
तथा धैवत-भूयिष्ठं वीभत्से सभयानके ॥ २६ ॥

महत्त्वपूर्ण है । **सोमनाथ** द्वारा वर्णित बहुतांश गमक रत्नाकरोक्त के समान ही है । सोमनाथोक्त गमकों का विवेचन आर. **श्रीमन्** ने विस्तार-पूर्वक किया है । सोमनाथ ने कतिपय रागों के आलाप गमक-सहित लिख के बताये हैं । रत्नाकर-सोमनाथ द्वारा वर्णित गमक प्रचलित हिं० गमकों के समान ही हैं । **पार्श्वदेव** ने की हुई गमकों की व्याख्या नाविन्यपूर्ण है:—

'स्व-श्रुति-स्थान-सम्भूतां छायां श्रुत्यन्तराश्रयाम् ।
स्वरो यद् गमयेद् गीते गमकोऽसौ निरूपितः ॥ १।४७ ॥'

हिं० प्रचलित गमक स्फुरजा (=कंप) मुर्की, जमजमा, मीड, छोटा-बड़ा 'गमक' खटका तथा घसीट आदि प्रसिद्ध हैं ।

टी०:—(२४—२६) i. उपरोक्त वचन के अनुसार षड्जादि स्वरों से साहित्यिक रसों की अभिव्यक्ति निम्नप्रकार से होगी:—

स—रे	म—प	ग—नि	ध
वीर-रौद्र-अद्भुत	हास्य-शृंगार	करुण	वीभत्स-भयानक

F: (२५, २६) B. २५।१२, १३

M: १ मूर २-राणा

तत्र भूयिष्ठ-शब्देनार्थ-सिद्धोंऽशक एवाभिमतः ।
यो यत्रांशः स कलितच(?) भूयः प्रयोगवान्भवति ।
यत्रांश-स्वर-व्यक्ति-निरुक्तस्य कचिद्बाहुल्यमुक्तम् ।
तदितर-स्वरवदभिप्रायमतोंऽश-स्वर-द्वारेण रसव्यवस्य
प्रसंगतो विधाय, कचिदपवादं कचिदनुवादमाह—
"षड्जोदीच्यवती चैव षड्जमध्या तथैव च ।
षड्ज-पञ्चम-बाहुल्यात्कार्ये शृङ्गार-हास्ययोः ॥ २७ ॥
षाड्जी तथार्षभी चैव स्व-स्वरांश-परिग्रहात् ।
वीर-रौद्राद्भुते नित्यं प्रयोज्या गान-योक्तृभिः ॥ २८ ॥

इसी अर्थ का रत्नाकर का श्लोक 'सरी वीरेऽद्भुते रौद्रे, धो बीभत्से भयानके ।' इत्यादि है (१।३।५९)। जाति-रागों के रस उनके अंश स्वरों के ऊपर अवलंबित होते हैः—'सर्वजातिषु जानीयादंशस्वरगतं रसम्'—सं० र० १।७।११२ ॥ अर्थात् 'यस्यां जातौ यदा योंऽशो भवति, तस्याम् 'सरी वीरे' इत्यादिनोक्त-प्रकारेण तत्तदंश-स्वर-गतं रसं विजानीयात् । ज्ञात्वा तत्तद्रसाभिव्यञ्जकैः पदैर्गायेदित्यर्थः ।' 'षाड्ज्यादि-सर्वजातिषु अंश-स्वर-गतो रसो वेदितव्यः ।' (१।७।६२—क०)

ii. मूल ष० ग्रामिक (या म० ग्रामिक) सप्तक द्वारा न्यास-परिवर्तन के कारण (श्रुतिपंडितों के मतानुसार 'मूर्च्छना'ओं के कारण) 'आर्षभी', 'गान्धारी' आदि जाति-रूप अन्य थाट उत्पन्न होते थे । उस समय ऐसे नये थाटों के स्वरों के नाम मूल ष० ग्रामिक या (म० ग्रामिक) ही रहते थे तथा इन नये थाटों के रस मूलग्रामिक स्वरों के अनुसार माने जाते थे, जैसा कि उपरोक्त "षड्जोदीच्यवती चैव०" (२९।१,२ का०) इत्यादि उद्धृत श्लोकों में भरतमुनि ने कहा है; परन्तु वास्तव में नये थाट के स्वरान्तर षड्ज-संचालन के कारण परिवर्तित हो जाते हैं, इसलिए मूल स्वरनाम के आधार पर उनके रस निर्धारित करना स्पष्टतः एक असंगति है । उदाहरणार्थ—काफी थाट में ऋषभ को वादी बनाकर गाने-बजाने से ऋषभ-गत वीर-रौद्र—रस की अनुभूति होगी, किन्तु काफी थाट के ऋषभ को षड्ज करने से भैरवी थाट की उत्पत्ति होती है, अतः षड्ज-भावी 'ऋषभ' के आधार पर इस भैरवी थाट का रस मूल ऋषभ-गत वीर-रौद्रादि

नैषादीत्यद्भुते कार्या निषादांश-परिग्रहात् ।
गान्धारांशोपपत्त्या च करुणे षड्जकैशिकी ॥ २९ ॥
धैवती धैवतांशत्वाद् बीभत्से च भयानके ।
गान्धारी रक्तगान्धारी गान्धारांशोपपत्तितः ।
करुणे तु रसे कार्या जातिर्गान्धर्व-वेदिभिः ॥ ३० ॥

मान लेना एक भूल होगी। जातिरूप ग्राम-सप्तक-जन्य थाटों के रस ग्रामिक मूल स्वर-नामों से प्राचीन शास्त्रकार निर्धारित करते थे, इसका दूसरा अर्थ यह निकल सकता है, कि षड्ज-संचालन से निकाले हुए नये थाटों का स्वतन्त्र व्यक्तित्व उस समय दृढ नहीं हुआ था, जिससे जन्य थाटों को मूल ग्रामिक सप्तक के अंश (विभाग) जैसा ही माना जाता होगा। संचालित षड्ज की 'अंश 'न्यास' आदि संज्ञाएँ इसी वस्तुस्थिति की ओर संकेत करती हैं। यही कारण होगा, कि जिससे ग्रामों का महत्त्व भी अत्यधिक माना जाता था। प्राचीन ग्रीक 'जाति' (=रागों) के विषय में भी विद्वानों की यही धारणा है:—

'......Let us again consider the essence of the distinction between these modes. It is not a distinction of modality such as exists between our major and minor scales. The development of Greek music preserved, amidst all its changes, the original tetrachord as the permanent unit of composition......... so that the principle of construction remained identical in the change of mode. Again, it is a distinction in the order of intervals, but only in so for as the several modes are different sections of one common whole.' (Artx., p. 39)

iii. प्राचीनों का प० ग्रामिक थाट प्रचलित काफी जैसे ही मान लेने पर उस थाट के षड्ज, ऋषभ आदि स्वरों द्वारा उपरोक्त वचन में कहे हुए रस निष्पन्न हो सकते हैं, इसके अतिरिक्त इस थाट से निकलनेवाले प्रत्येक राग का एक स्वर जो वादी ('अंश' = प्रमुख) होगा, उसी के अनुसार रस भाव भी उत्पन्न होने चाहिए; किन्तु रागजन्य रस केवल एकमात्र वादी स्वर के ऊपर ही अवलंबित नहीं होता। बुलंद या मृदु आवाज, राग में प्रयुक्त होनेवाले गमक, राग के कोमल तीव्र तथा वर्ज्यावर्ज्य स्वर, स्वरसंयोग, विलंबित आदि लय, लयकारी, बोलतानें, बोलबाँट, ख्याल-ठुमरी आदि प्रबंध-रचना इत्यादि के विशिष्ट प्रयोग से राग के निर्धारित रस का प्रकारान्तर अंशतः हो

मध्यमा पञ्चमी चैव नन्दयन्ती तथैव च ।
मध्य-पञ्चम-बाहुल्यात्कार्या शृङ्गार-हास्ययोः ॥ ३१ ॥
मध्यमोदीच्यवा चैव गान्धारोदीच्यवा तथा ।
द्वे षड्ज-पञ्चमाभ्यां तु वीर-रौद्रे प्रकीर्तिते ॥ ३२ ॥

सकता है। करुण कोमल प्रकृतिक भैरवी राग स्वर चलन के अनुसार करुण, शृंगार अथवा वीर हास्यादि विभिन्न रसो को अत्याधिक निर्माण करता है, तथा उसे अनुभव भी किया जा सकता है।

iv कोमल ऋषभ धैवत एवं तीव्र मध्यम का रसकार्य जानने के लिए प्राचीन ग्रन्थो का आधार प्राप्त नहीं हो सकता। तीव्र गान्धार निषादों का रस परिणाम भरत ने स्वतन्त्ररूप से नहीं कहा है। इसका कारण यह हो सकता है, कि भरतसंगीत में अंतर काकली स्वरो का अस्तित्व स्वतत्र नहीं था। तथापि—

v काकल्यन्तर स्वरों के कारण अंश-गत रस विशेष बलवान् होते हैं, इस प्रकार के भरत के मन्तव्य की ओर निम्नोद्धृत वचन इंगित करता है—

"सर्वेष्वंशेषु रसा नियम विधानेन सप्रयोक्तव्या ।
काकल्यन्तर विहिता विशेषयुक्तास्तु बलवन्त ॥ २९।१५ ॥"

vi प्राचीन, ग्रीक, ईरानी आदि संगीत में तथा प्रचलित पाश्चात्य संगीत में भी रागो द्वारा साहित्यिक रसों का निर्माण होता है, इस प्रकार की कल्पना प्रचलित थी तथा आज भी है (Artex p 39, 71, H, p 180 183 Phymus p 187–181)

vii राग रस कल्पित हैं, ऐसा हेल्महोल्ट्ज् आदि का कथन है—

The whole matter is one of subjective imagination, possibly based in the first instance on association of ideas' (p 184) अन्य विद्वान् अल्पस्वल्प मतभेद होते हुए भी हेल्महोल्ट्ज से सहमत हैं—

Plato would have forbidden the use of the last two modes in his ideal republic It therefore seems wiser to assume, without being too dogmatic that the association of particular keys with music of particular type, and especially with familiar examples, has given rise to a belief in distinctive emotional characters for which there is in fact no rational foundation, although the possible association with absolute pitch should not be entirely discounted (Phymus p 181)

कार्मारवी तथा तथाऽऽन्ध्री च निषादांश-परिग्रहात्
वीराद्भुते तु कर्तव्ये नित्यं गान-प्रयोक्तृभिः ॥ ३३ ॥
कैशिकी धैवतांशत्वात्तथा गान्धार-पञ्चमी ।
प्रयोक्तव्या बुधैः सम्यग् बीभत्से सभयानके ॥ ३४ ॥

पाश्चात्य विद्वानों के यह निष्कर्ष हिं० राग-संगीत के लिए यथावत् ग्राह्य नहीं होंगे; इतना ही नहीं, परन्तु रागों द्वारा साहित्यिक 'रस' निर्माण नहीं होते हैं, ऐसा कतिपय भारतीय विद्वानों का भी कथन है। विशिष्ट राग द्वारा विशिष्ट 'रस' संपूर्णतः पैदा नहीं होता होगा, किन्तु—

viii. आधुनिक मनोवैज्ञानिकों ने अनेक प्रयोगों द्वारा सिद्ध किया है, कि कलाकार के हृदयस्थ भाव ही संगीत को निर्माण करते हैं तथा ऐसे संगीत द्वारा श्रोताओं के हृदय में वे ही भाव पैदा होते हैं; अर्थात् संगीत-जन्य रंजन अथवा आनंद इसी परिणाम का नाम है:—

'Music is essentially a play upon feeling. It is appreciated only in-so-far as it arouses feeling and can be expressed only by active feeling in music. On the degree and the kind of feeling, we may again classify persons into characteristic types in terms of affective responsiveness.' संगीत के यह भाव 'दिव्य' माने जाते हैं, किन्तु यथार्थ में वे मानवीय ही हैं। इन भावों की उच्चनीचता के साथ साथ अल्पाधिकता के ऊपर संगीतकारों की श्रेणी का क्रम लगाया जाता है। इनके अतिरिक्त अन्य दो विशेष भाव विचारणीय हैं, एक सृजनात्मक भाव और दूसरा कलात्मक अनुभवः—

"we are, of course not thinking here about mystic inner *something which is spoken of as feeling, as such, but of the* expression of feeling. In modern psychology, to feel is always to do, to express something-action of the organism. The expression does not take ethereal, majical or even mystic form, but comes to us through the media to which our senses are open. There are two other aspects of feeling in music. One is the nature of esthetic experience, and the other is what we may call, 'The creative feeling' as it operates in the composer." संगीत के भावों का यह आविष्कार स्वर-ताल-रागों के दृढ नियमों के प्रति कलात्मकता से हेतुपुरस्सर विचलित होने पर

एकैव षड्जमध्या विज्ञेया सर्व-संश्रया जातिः ।
अस्यास्त्वंशाः सर्वे स्वरास्तु विहिता प्रयोग-विधौ ॥ ३५ ॥

ही निर्माण होता है:— " As a fundamental proposition we may say that the artistic expression of feeling in music consists in 'esthetic deviation from the regular – from pure tone from pitch, even dynamics, metronomic time, rigid rhythms, etc. .... The emotional medium at one moment may be primarily fine modulation in tonal timbre, at another in rhythms; at another in stress and each of these in countless forms of sublimation or hierarchies. In the ensemble of such deviation from the regular, lies the beauty, the charm, the grandeur of music." (Psymus., p. 9–10).

राग-भाववशात् स्वरस्थानों का सूक्ष्म उतार-चढाव को ही संगीतकार श्रुति' नाम से पहचनाते हैं । ऐसी श्रुतियों का निर्माण केवल संवादी गणितागत स्वरों द्वारा नहीं होता है, न उनकी संख्या भी २२ ही हो सकती है । तात्पर्य, संगीत की निर्मिति, स्वरूप तथा रसास्वाद में 'भाव' ही कारण होते हैं । इसी अर्थ में राग का अर्थ फॉक्स स्ट्रँग्वेज ने colour और mood किया है । यद्यपि 'राग' शब्द का अर्थ 'रञ्जक स्वर-समुदाय' इस प्रकार मूलतः माना गया है, तथापि राग का आविष्कार अ-कलात्मक हो, तो वह अरंजक भी हो जाता है; जैसा कल्लिनाथ ने स्पष्ट किया है:— " राग-शब्दस्य केवल-रूढत्वं तु येन केनचिद् रागेण यः कश्चन रज्यते तं प्रति तस्य अरञ्जकत्वात् 'अयं रागो मह्यं न रोचते' इति तद्वाक्यप्रयोगे द्रष्टव्यम् (२।१)" सारांश जिस शास्त्रोक्त संगीत द्वारा लोकरंजन नहीं होता है तथा जो भावपूर्ण नहीं है, ऐसे संगीत को संगीत-विद्या कहना उचित होगा, संगीत कला नहीं । संगीतकार बनने के लिए आत्म-निवेदन का माध्यम एकमात्र संगीत होना अनिवार्य है; तदुपरान्त शास्त्र-ज्ञान, अभ्यास ('रियाज'), अनुभव, एवं कल्पनाशक्ति की आवश्यकता होती है । सांगीतिक बुद्धि—musical intelligence—गणित, विज्ञान आदि के समान ही होती है; परन्तु संगीत-कृति यदि केवल बुद्धिजन्य हो, तो उसे कला न कहते हुए संगीत कारीगरी कहना अधिक उचित होगा। संगीत में कल्पना imagination के स्थान पर यदि बुद्धि-पक्ष अधिक विकसित हुआ है, तो वह संगीत रूखा तथा कृत्रिम होकर परिणाम-कारक

षड्जर्षभ-गान्धारास्तथा मध्यम-धैवतौ ।
पञ्चमश्च निषादश्च यत्रांशास्त्वेव संश्रिताः ॥ ३६ ॥

°(जातिषु छन्दसां योजना, यथा—)

गायत्र्यादि जगत्यन्तं तत्र छन्दः क्रमाद्भवेत् ।
एतत्तु वेद-विषयमन्यद् गान्धर्व-गोचरम् ॥ ३७ ॥
हीने गीत-विहीनानि, मध्ये मध्यानि, चोत्तमे ।
उत्तमानि प्रयोज्यानि छन्दांसीति मुनेर्मतम् ॥ ३८ ॥
विलम्बित-लयैश्चात्र तुर्य-पर्यन्त-निर्मिते ।
गीते गुर्वक्षरं छन्दः प्रतिष्ठानं प्रशस्यते ॥ ३९ ॥
औडवादीनि गीतानि पूर्वाण्यन्यानि यानि च ।
लघु-प्रायाक्षरैः सम्यग् निर्मिते च द्रुतैर्लयैः ॥ ४० ॥
गुरु-लघ्वक्षर-प्रायो मध्यमेऽप्य....लाच ।
गायत्र्यादीनि सर्वाणि तत्र छन्दांसि योजयेत् ॥ ४१ ॥
अपेक्षित-रसापेक्षं....यदि....स्त्युदीरिताः ।
ध्रुवास्तत्र....छन्दांसि सदा नित्यं तमिष्यते (?) ॥ ४२ ॥

प्रतीत नहीं होता है । ऐसी गायकी को आजकाल 'बुद्धि-प्रधान' गायकी नाम देकर उसकी श्रेष्ठता सिद्ध करने के लिए तार्किक प्रयत्न हो रहे हैं । इसी प्रकार के 'तैयारी'-युक्त किन्तु रसहीन गायन को तज्ञ लोग रियाज का गाना अथवा 'कसरत' (vocal gymnastics) नाम देते हैं । स्व-बुद्धि-कौशल्य रहित केवल पायी हुई शिक्षा का यथातथा प्रदर्शन 'तालीम' का गाना कहा जाता है । दूसरों की नकल कर के गानेवाले गायकों को रत्नाकर ने 'अनुकार' नाम दिया है । केवल ताल और लयकारी का अंग प्रदर्शित करते रहने पर 'तबले का गाना' कहते हैं । रत्नाकर ने गायकों के पाँच प्रकार बताये हैं, जो लगभग ऐसे ही हैं.—

M: १-नि २-वे ३-ति ४ प्रे- ५ स्तु= ६ द्रुतैर्लयैः

'शिक्षाकारोऽनुकारश्च रसिको रञ्जकस्तथा ।
भावुकश्चेति गीतज्ञः पञ्चधा गायना जगुः ॥ ३।२० ॥'

इनके लक्षण पार्श्वदेव ने भी दिये हैं (८।५२–७२)। तात्पर्य 'रसिक' 'रंजक' और 'भावुक' ऐसे कलाकारों के तीन ही भेद हैं। संगीत-शिक्षकों की संज्ञा 'शिक्षाकार' है, जिनको प्रचलित में 'तालिमीये' कहते हैं। रत्नाकर ने रसहीन गायक को 'विरस' तथा कनसुरे गायक को 'विकल' कहा है।

राग-चित्रण की अपार क्षमता जिस कंठ में बिनाभ्यास अर्थात् निसर्गतः रहती है, उसे रत्नाकर ने 'शारीर' संज्ञा दी है'—

'रागाभिव्यक्ति-शक्तत्वमनभ्यासेऽपि यद् ध्वनेः ।
तच्छारीरमिति प्रोक्तं शरीरेण सहोद्भवात् ॥ ३।८२ ॥'

'शारीर' को प्रचार में 'सुरीले' शब्द से पहचानते हैं। 'शारीर' गुण के लक्षणों की स्पष्टता पार्श्वदेव ने की है (१।१६–१९)।

संगीत के कतिपय सौंदर्य तत्त्वों का विश्लेषण पूर्ण वर्णन रत्नाकर तथा पार्श्वदेव ने स्थाय प्रकरण में किया है। उदाहरणार्थ.—

(१) 'ढालो मुक्ताफलस्येव चलनं लुण्ठनात्मकम् ॥ ३ । ११३ ॥
....नमनं त्वतिकोमलं लवनी ॥
यत्तु कम्पनमारोहिण्यवरोहिणि वा भवेत् ॥ ११४ ॥
वहनी साऽथ सञ्चारिण्यपि वा स्थिर-कम्पनम् ॥
यस्यामन्तर्विशन्तीव स्वरा. खुत्तेति सा मता ॥ ११७ ॥
सोत्फुल्लेत्युदिता यस्या निर्यान्तीवोपरि स्वराः ॥ ११८ ॥
रागमग्ना वाद्य-शब्दा येषु ते वाद्यशब्दजाः ॥ ११९ ॥
श्रुतिन्यूनाधिकत्वेन या स्वरान्तर-संश्रया ॥ १२१ ॥
स्वरान्तरस्य रागे स्यात् स्वरकाकुरसौ मता ।
या रागस्य निजच्छाया रागकाकुं तु तां विदुः ॥ १२२ ॥
रागस्यातिशयाधानं प्रयत्नाद् भञ्जनं मतम् ॥ १२८ ॥
सविलासास्ति गीतस्य मत्त-मातङ्गवद् गतिः ॥ १२९ ॥
तद्युक्तास्तु गतेः स्थायाः, स्निग्धो माधुर्यमांसलः ।
बहुलो येषु नादः स्यात्ते नादस्य प्रकीर्तिताः ॥ १३० ॥
युक्ताः कोमलया कान्त्या छवेः स्थाया निरूपिताः ॥ १३१ ॥
रक्तेरुत्कर्षतो रक्तेरुक्ताः स्थाया मनीषिभिः ।
द्रुतत्वान्वर्थ-नामानो भृतस्य भरणाद् ध्वनेः ॥ १३२ ॥

रागान्तरस्यावयवो रागेऽशः स च सप्तधा ॥ १३३ ॥
निकृतेः करुणायाश्च स्थायास्त्वन्वर्थ-नामकाः ॥ १४३ ॥
वहन्त इव कम्पन्ते स्वरा येषु वहस्य ते ।
अक्षराडम्बरो येषु मुख्यास्ते स्युस्तदन्विता ॥ १५२ ॥
वेगेन प्रेरितैरूर्ध्वं स्वरैरुल्लासितो मतः ।
यत्र गङ्गातरङ्गन्ति स्वराः स स्याचरङ्गितः ॥ १५३ ॥
परितोऽर्धभृते कुम्भे जलं डोलायते यथा ।....सलम्बितः ॥ १५४ ॥'

स्थायों का विवेचन पार्श्वदेव ने भी अच्छा किया है, जिसमें कतिपय मराठी शब्दों का उपयोग किया गया है:—

'ठायं यद् वेधकत्वेन क्रियते तद्विचक्षणैः ॥ २। ६६ ॥
चित्ताचे-ठायमुदित श्रोतुश्चित्तानुवर्तनात् ।
करुणाराग-योगेन चिन्ता-दीनतयाऽथवा ॥ ६७ ॥
करुणा-काकु-संयुक्तं ठायं चेत्करुणाभिधम् ॥ ६८ ॥
भवेद् यत्र सुनादोऽन्ते तार-स्थान-गत-ध्वनैः ॥ ७१ ॥
सादाचे–ठाय इत्युक्तः स तु गीत-विचक्षणैः ॥ ७२ ॥'

इनमें 'चित्त,' 'करुणा' एवं 'साद' के ठाय अर्थात् स्थाय कहे हैं। 'सादाचे ठाय' को ही प्रचलित में पुकार की तानें कहते हैं। रत्नाकर ने मधुर सुरीले आवाज को असाधारण 'शारीर'—गुण कहा है:—

'शब्द-शारीर-गुणतः सुकरः सुस्वरोऽथवा ॥ १७३ ॥
यः कस्यचिन्न सर्वेषां सोऽसाधारण उच्यते ॥ १७४ ॥'

सिंहभूपाल द्वारा स्पष्टीकरण इस प्रकार है:—

'यस्तु कस्यचिदेव पुरुषस्य शब्द-गुणेन शारीरगुणेन वा सुकरः, सुखेन कर्तुं शक्यः स सुस्वरः; अपस्वर-हीनो वा; न तु सर्वेषां पुरुषाणां, सोऽसाधारणः।' इससे कह सकते हैं, कि सुरीले आवाजवाले गायक सभी युग में अपवाद-रूप ही होते हैं।

राग के प्रमुख स्वर-समुदाय को ही 'स्थाय' कहते हैं। गमक, स्वरों के गुण और लगाव, तानें तथा बोलतानें, श्रुति-रूप स्वर एवं राग-मिश्रण आदि सभी गायकी-क्रियाओं का समावेश स्थाय के अन्तर्गत होता है। संगीत के सौंदर्य-गुणों की समालोचना करने के लिए स्थाय-विवेचन अत्यंत उपयुक्त है। इस महत्त्व के विषय की ओर विद्वानों का ध्यान आकृष्ट करने के लिए हमने यह विस्तार किया है।

४ अथ चतुर्थं राग-देवता-कालादि-प्रकरणम्

देवतास्तत्र रागाणां गीते तूत्संगतः स्मृताः ।
कश्यपाद्यैः कचित्काश्चिन्नाम्नैव परिकीर्तिताः ॥ ४३ ॥
षड्जग्रामः सुरश्रेष्ठो, मध्यमे चैव माधवः ।
ग्रामे गान्धार-पूर्वे तु दैवतं पार्वतीपतिः ॥ ४४ ॥
इति सामान्यतः प्रोक्तं, विशेषादधुनोच्यते ।
टक्करागे स्मृतो रुद्रो, भिन्नषड्जे प्रजापतिः ॥ ४५ ॥
ककुभे धर्मराजस्तु, हिन्दोले मकरध्वजः ।
पञ्चमे पञ्चबाणस्तु, विष्णुर्मालवकैशिके ॥ ४६ ॥
षड्जग्रामाभिधे रागे देवता स्याद् बृहस्पतिः ।
ध्रुवस्तु मध्यमग्रामे, भार्गवः शुद्धषाडवे ॥ ४७ ॥
शनैश्चरः पञ्चमे च, सूरः साधारिते स्मृतः ।
मध्यमे कैशिके सोमो, लोहितः षड्ज-कैशिके ॥४८॥
राहुश्च देवता प्रोक्ता रागे गान्धारपञ्चमे ।
देवता केतुरेकस्तु स्मृता मालवपञ्चमे ॥ ४९ ॥
अनुक्त-देवतानां तु रागाणां दैवतं शिवः ॥ ५० ॥

यदाह मतंगः —
"सर्वे रागा महादेवे सम्यक् सन्तोषकारकाः" ॥ ५१ ॥
हेमन्त-ग्रीष्म-वर्षासु कालेषु गण-शासिभिः ।
षड्ज-मध्यम-गान्धार-ग्रामा गेया यथाक्रमम् ॥ ५२ ॥
हेमन्ते भिन्नषड्जाख्यः शिशिरे चैव कैशिकः ।
वसन्ते चैव हिन्दोलः, प्रेङ्खः कण्ठे (?) विगीयते ॥५३॥
पञ्चमो गीयते ग्रीष्मे मध्यमग्राम-नामकः, ।
अभ्रागमे षड्जग्रामष्टक्करागश्च गीयते ॥ ५४ ॥

M: १ गान्धारा २-चेष्टो ३-मलिप ४-सर्वे- ५ छ- ६ सर्वे ७-रः ८ सङ्

ककुभः शुभमिच्छद्भिर्गेयस्तु शरदागमे ।
पूर्वाह्णे चैव मध्याह्ने चापराह्णे यथाक्रमम् ॥
याम-त्रितयमेतत्तु गेयं श्रेयोऽभिवाञ्छता ॥ ५५ ॥
शुद्धा भिन्ना च या गीतिरायामे प्रथमे मता ।
मध्य-प्रहर-युग्मे च गौडी गीतिः प्रशस्यते ॥ ५६ ॥

°(अथ रागाणां रसेषु विनियोगो, यथा —)

हिन्दोलो मालवाख्यश्च शृङ्गार-रसमाश्रितौ ।
पञ्चमष्टक्करागस्तु वीर-रौद्रे यथाक्रमम् ॥ ५७ ॥
कारुण्ये ककुभश्चैव, हास्ये मालवकैशिकः ।
ककुभो भयानके कार्यः षड्जो वीभत्स-शान्तयोः ॥५८॥
एते रसाश्रिता रागा योज्याः सर्वत्र गीतके ।
प्रकरणार्थवशाद्वाऽपि, रागः पात्रानुरागतः ॥ ५९ ॥

५ अथ पञ्चमं पाठ्य-काकु-प्रकरणम्

यज्ञ-पाठ्येषु काकुः स्यात्तस्मात् स च ध्रुवां गतः ।
सामनि च लयाः प्रोक्ता इति सामान्य-लक्षणम् ॥६०॥
उच्चैः पाठ्यमृचां प्राहुरुच्चैः साम्नस्तु योजयेत् ।
उपांशु (?) यजुषां च स्तुतौ पाठ्य-विनिश्चयः ॥ ६१ ॥
प्रेरेव्यप्य (?)कर्माणि शास्त्रे चम्पूप (?) कर्मणि ।
अत्रोदात्तः स्वरः कार्योऽनुदात्तो जपकर्मणि ॥ ६२ ॥

टी० :— (६० । १०८) वक्ता के मनोगत भावों के अनुरूप वाक्यों के स्वरों का चलन मन्द्र-तारादि स्थानों में होता है, स्वरों के उच्चार भी मृदु, कठोर, कंपित आदि होते हैं । इस प्रकार के भावाभिव्यञ्जक वाक्योच्चार को 'काकु' संज्ञा दी गयी है । 'काकुर्ध्वनेर्विकारः' (—क० २ । १०४ १२७)। रत्नाकर ने स्वरकाकु, रागकाकु, यन्त्रकाकु आदि कही है ।

M: १ शिरपुंगमे २ पाठ्य —३ ज्ञः ४—से ५ काः ६ यासघ ७ ध्रुवागतः
८ समानिवलया ९ सूर्वा १० मामस्तु

पाठ्य-गुणानिदानीं वक्ष्यामः । तद्यथा—
सप्तस्वराः, त्रीणि स्थानानि, [11](चत्वारो वर्णाः), द्विविधा काकुः, षडलङ्काराः, षडङ्गानि, इति ॥ ६३ ॥
त्रीणि स्थानानि तूरः, कण्ठः, शिर इति ।
प्रातःसवनमुरसा, कण्ठ्यं माध्यंदिनं मतम् ॥
तृतीयं शिरसा योज्यं; त्रिविधं सवनं मतम् ॥ ६४ ॥
शारीर्यामथ वीणायां त्रिभ्यः स्थानेभ्य एव तु ।
उरसः शिरसः कण्ठात्स्वर-काकुः प्रवर्तते ॥ ६५ ॥
आभाषणं तु दूरस्थे शिरसा संप्रयोजयेत् ।
नातिदूरे च कण्ठे च ह्युरसा चैव पार्श्वतः ॥ ६६ ॥
उरसोदाहृतं वाक्यं शिरसोद्दीपयेद् बुधः ।
कण्ठेन शमनं कार्यमर्थयोगेषु सर्वदा ॥ ६७ ॥
उदात्तश्चानुदात्तश्च स्वरितः कम्पितस्तथा ।
वर्णाश्चत्वार एव स्युः पाठ्ययोगे च सर्वदा ॥ ६८ ॥
तत्र हास्य-शृङ्गारयोः स्वरितोदात्तैर्वीर-रौद्राद्भुतेषूदात्त-कम्पितैः करुण-बीभत्स-भयानकेष्वनुदात्त-स्वरितकम्पितैर्वर्णैः [11](पाठ्यमुपपादयेदिति)। द्विविधा काकुः; साकाङ्क्षा, निराकाङ्क्षा च ॥ ६९ ॥

---

11. मन्द्र-तारादि वाक्योच्चारों के अतिरिक्त शब्दोच्चारों के स्वरों में भावानुकूल चढ-उतार भी करने में आता है, यह चढ उतार स्वर-मीलन (blending of notes) के रूप में अर्थात् मींड के रूप में किया जाता है। हमारे संगीत में प्रयुक्त होनेवाले सभी गमक इस प्रस्तुत शब्दोच्चार-जन्य स्वर मीलन के परिणाम रूप हैं।

F. (६१) B १७।११, (२५, २६) B २१।१२, १३

M: १ पान्य २ यथा ३ षडानि ४ सवन ५ सारीयामिथ ६ धं

अनियुक्तार्थकं वाक्यं साकाङ्क्षमिति संज्ञितम् ॥
नियुक्तं यद्भवेद्वाक्यं निराकाङ्क्षं तदुच्यते ॥ ७० ॥

°(अत्र साकाङ्क्षं मन्द्रादि-तारान्तम्)। अनियुक्तार्थमनिर्यातित-वर्णालङ्कारं कण्ठोरःस्थान-गतम् । निराकाङ्क्षं नाम नियुक्तार्थं निर्यातित-वर्णालङ्कारं शिरःस्थान-गतं मन्द्रादिना गतमिति ॥ ७१ ॥

°(अथ षडलङ्काराः ।)

उच्चो दीप्तश्च मन्द्रश्च नीचो द्रुत-विलम्बितौ ।
पाठ्यस्यैते ह्यलङ्कारा लक्षणं च निबोधत) ॥ ७२ ॥

उच्चो नाम शिरःस्थान................।
नीचो नाम उरःस्थान-गतो मन्द्रतरः स्वभावाभाषण-व्याधित-पथिश्रान्त-त्रस्त-पतित-मूर्च्छितादिषु ॥ ७३ ॥
ह्रस्वो नाम कण्ठ-गत-त्वरित-लज्जित-मन्मथ-भय-शीत-ज्वरार्त-त्रस्तात्यधिक-कार्य-वेदनादिषु । विलम्बितो नाम कण्ठ-स्थान-गतो मन्द्रः शृङ्गार-वितर्क-विचारामर्षासूयिताव्यक्तार्थ-प्रवाद-लज्जा-चिन्ता-विस्मित-तर्जनदोषानुकीर्तन-दीर्घ-रोग-निपीडनादिषु ॥ ७४ ॥

अत्रानुवंश्यां श्लोका भवन्ति—

उत्तरोत्तर-सञ्जल्पे परुषाक्षेपणे तथा ।
तीक्ष्ण-रूक्षाभिनयन आवेगे क्रन्दिते तथा ॥ ७५ ॥

---

iii. दाक्षिणात्य संगीत में 'ढालु' आदि सात गमक प्रचलित हैं, जिनका उच्चार भी हिन्दुस्तानी गमकों से भिन्न है। राग-चित्रण तथा गमकों के उच्चार इनकी भिन्नता के कारण दाक्षिणात्य संगीत की भिन्नता प्रतीत होती है। राग-संगीत का रस-परिणाम निर्लंबित आलाप एवं गमकों के प्रचुर प्रयोग के ऊपर निर्भर है। तानबाजी के गायन मे गमकों के प्रयोग के लिए अवकाश बहुत कम रहता है।

परोक्षावाहने चैव तर्जने त्रासने तथा ।
दूरस्थाभाषणे चैव तथा निर्भर्त्सनेषु च ॥ ७६ ॥
भावेष्वेतेषु हि नित्यं नाना-रस-समाश्रया ।
उच्चा दीप्ता द्रुता चैव काकुः कार्या प्रयोक्तृभिः ॥ ७७ ॥
व्याधिते च ज्वरार्ते च क्षोभे च क्षुत्पिपासिते ।
विषमस्थे वितर्के च गाढ-शस्त्र-क्षते तथा ॥ ७८ ॥
गूढार्थ-वचने चैव चिन्तायां, तपसि स्थिते ।
मन्द्रा दीप्ता च कर्तव्या काकुर्नाट्य-प्रयोक्तृभिः ॥ ७९ ॥
मेळे च मर्दने चैव भयार्ते, शीत-विप्लुते ।
मन्द्रा द्रुता च कर्तव्या काकुर्नाट्य-प्रयोक्तृभिः ॥ ८० ॥
दृष्टानष्टानुसरण इष्टानिष्ट-श्रुतौ तथा ।
इष्टार्थाख्यापने चैव चिन्ता-ग्रस्ते तथैव च ॥ ८१ ॥
उन्मादेऽसूयने चैव ह्युपालम्भे तथैव च ।
अव्यक्तार्थे प्रवादे च तथायोगे तथैव च ॥ ८२ ॥
उत्तरोत्तर-सञ्जल्पे, कार्यातिशय-संयुते ।
........................यिस्तैपूपपाद्यते ॥ ८३ ॥
............क्रोधे, दुःख-शोके तथैव च ।
विस्मयामर्षयोश्चैव हर्षप्त्रपरिवादिते ॥
विलम्बिता च दीप्ता च काकुर्मन्द्रा तु वै भवेत् ॥ ८४ ॥
यानि सौम्यार्थ-युक्तानि सुखं-भाव-कृतानि च ।
मन्द्रा विलम्बिता चैव तत्र काकुर्विधीयते ॥ ८५ ॥
यानि स्युस्तीक्ष्ण-रूक्षाणि दीप्त-मन्द्र-कृतेष्वपि ।
एवं नानाश्रयोपेतं पाठ्यं योज्यं मनीषिभिः ॥ ८६ ॥

F. (७५-८३) B. १७।१०१-१११

M: १ गुर्वंप- २ बिल्मिता ३ नाप- ४ भाग ५ मन्मथ ६ नविद्रा ७ पुत्र-
20

*(अथ काकूनां रसेषु विनियोगो, यथा—)

हास्य-शृङ्गार-करुणेष्विष्टा काकुर्विलम्बिता ।
वीर-रौद्राद्भुतेषूक्ता दीप्ता चापि प्रशस्यते ॥ ८७ ॥
भयानके सबीभत्से द्रुता नीचा च कीर्तिता ।
एवं भाव-रसोपेता काकुः कार्या प्रयोक्तृभिः ॥ ८८ ॥

अथाङ्गानि—

विच्छेदोऽर्पणं विसर्गोऽनुबन्धो दीपनं प्रशमनमिति षडङ्गानि ॥ ८९ ॥ तत्र विच्छेदो नाम विरामकृतः । अर्पणं नाम लीलायमान-मधुर-वर्णेन स्वरेण पूरयदिव रसं यत्पठ्यते ॥ ९० ॥ विसर्गो नाम वाक्यापन्यासः । अनुबन्धो नाम पदान्तरेषु विच्छेदोऽनुशासनं वा । दीपनं नाम त्रिस्थान-शोभि वर्धमानस्वरं च ॥ ९१ ॥ प्रशमनं नाम तार-गतानां स्वराणामविस्वरेणावतरण-मिति । एषां रस-गत-प्रयोगः ॥ ९२ ॥

तत्र हास्य-शृङ्गारयोरर्पण-विच्छेद-दीपन-प्रशमन-युक्तं (पाठ्यं कार्यम्) । वीर-रौद्राद्भुतेषु विच्छेद-दीपनार्पणा-नुबन्ध-बहुलं पाठ्यं प्रयोज्यम् ॥ ९३ ॥

बीभत्स-भयानकयोर्विसर्ग-विच्छेदार्पण-प्रायमिति । सर्वेषां चैवैतेषां मन्द्र-तारस्य व्यवस्थया त्रिस्थान-गतः प्रयोगः । मन्द्र-तारं[3] गच्छेत्ताराद्वा मन्द्रमिति ॥ ९४ ॥ एषां च द्रुत-मध्य-विलम्बितास्त्रयो लयास्तेषूपपाद्याः । तद्यथा—

हास्य-शृङ्गारयोर्मध्य-लयः । करुणे विलम्बितः ।
वीर-रौद्राद्भुत-बीभत्स-भयानकेषु द्रुत इति ॥ ९५ ॥

F: (८४-८८) B. १७।१०१-१०८

M. १ घर्मेना २ स्वराणमेविस्वरेण- ३ न

अथ विरामः—

अर्थ-समाप्तौ काव्यवशान्न छन्दोवशात् । तस्माद्
दृश्यन्ते हि एक-द्वि-त्रि-चतुरक्षरा विरामाः ॥ ९६ ॥

यथा—

किं, गच्छ, मा विश, सुदुर्जन, वारितोऽसि ।
कार्यं त्वया न मम, सर्व-जनोपभुक्तः ॥ ९७ ॥
सूचासुवां शरगते (?) तथोपचारे ।
स्वल्पाक्षराणि हि पदानि भवन्ति काव्ये ॥ ९८ ॥

एवं विरामे प्रयत्नोऽनुष्ठेयः, यस्माद् विरामो पूर्व-निदर्शकः । तथा हि—

विरामेषु प्रयत्नस्तु नित्यं कार्यः प्रयोक्तृभिः ।
कस्मादभिनयो ह्यस्मिन्नर्थापेक्षी यतः स्मृतः ॥ ९९ ॥
ये विरामाः स्मृता वृत्ते तेष्वलङ्कार इष्यते ।
समातेऽर्थे, व्रीडिते च, व्यथिते..........॥ १०० ॥
विलम्बिते विरामे च गुरोर्यत्र भरो भवेत् ।
भाषाणामर्थयोगेन विरतो विरमेद् बुधः ॥ १०१ ॥
एक-द्वि-त्रि-चतुः-पञ्च-षट्-कलं वा विलम्बनम् ।
षण्णां कलानां परतो विलम्बो न विधीयते ॥ १०२ ॥
अथवा कारणोपेतं प्रयोगं कार्यमेव च ।
समीक्ष्य वृत्ते कर्तव्या विरामा रस-भावतः ॥ १०३ ॥
ये विरामाः स्मृता वृत्त-काव्ये (पाद-)-समुद्भवाः ।
वक्रस्यापि क्रमं प्राज्ञैः कार्यास्तेऽर्थ-रसाश्रयाः ॥ १०४ ॥

नापशब्दं पठेत्तज्ज्ञो भिन्नवृत्तेऽपि चैव हि ।
विश्रमेत्तु विरामेषु, दैन्ये काकुं न दीपयेत् ॥ १०५ ॥
व्यपेतं काव्यदोषैस्तु लक्षणं च गुणान्वितम् ।
स्वरालङ्कार-संयुक्तं पठेत्पाठ्यं यथाविधि ॥ १०६ ॥
अलङ्कार-विरामाश्च ये पाठ्ये संस्कृते स्मृताः ।
त एव सर्वे कर्तव्याः स्त्रीणां पाठ्ये तु संस्कृते ॥ १०७ ॥
एवमेतत्स्वरकृतं कला-काल-लयान्वितम् ।
दश-रूप-विधाने तु पाठ्यं योज्यं प्रयोक्तृभिः ॥ १०८ ॥

६ अथ षष्ठं गीतिप्रकरणम्

............षड्ज-मध्य-वर्णा (?) स्त्वेते प्रकीर्तिताः । अत्र वर्ण-शब्देन गीतिरभिधीयते । नाक्षर-विशेषाः । नापि षड्जादि-सप्त-स्वराः ॥ १०९ ॥ पद-गानेऽनियमादेव स्वेच्छया प्रयुज्यन्ते; षड्जादि-स्वरान्....... तानामप्यविशेषेण वावरोहादिधर्माणां प्रत्येव स्वोपलम्भात् । अतो वर्ण एव गीतिरवस्थितम् । साऽपि चतुर्विधा ॥ ११० ॥

तथा चाह भरतः,
"प्रथमा मागधी ज्ञेया, द्वितीया चार्धमागधी ।
संभाविता तृतीया च चतुर्थी पृथुला स्मृता" इति ॥१११॥
त्रि-निवृत्ता प्रगीता या गीतिः सा मागधी स्मृता ।
एतल्लक्षणसम्बन्धादर्धतश्चार्धमागधी ॥ ११२ ॥

F: (८९-१०८) B. १७।११९-१२७ Pb.
(११२) B.२९।४९ pb, M. १४२ pb; (११३) B. २९।५०; M. १४४

Ad: (१११) B.२९।४८; M. १४१

M: १ प्रथम च त्रिनिवृत्तिः

संभाविता तथा गीतिर्गुर्वक्षर-समन्विता ।
पृथुलाख्या तथा नित्यं लघ्वक्षर-समन्विता ॥ ११३ ॥

अनेन मागध्यर्धमागध्यौ, संभाविता, पृथुला च क्रमेण विवर्तिताः । दक्षिण-क्रमेण चित्र-वृत्तिर्दक्षिण-मार्गेषु प्रयोक्तव्या, इति दर्शयति; तथा च अन्यैरपि स्वीकृतमेतत् ॥ ११४ ॥

यथा च—

"द्विगुरुर्द्विनिवृत्ता च चित्रे वृत्तिस्तु मागधी ।
लघु-प्लुताकृता चैव तदर्धे चार्धमागधी ॥ ११५ ॥
संभाविता गुरुर्वृत्तौ पृथुला दक्षिणे लघुः" इति ॥११६॥
आसां चतसृणामेव लघ्वादि-परिकल्पिताः ।
भेदाः प्रत्येकमन्येऽपि दृश्यन्ते पञ्चधा यथा ॥ ११७ ॥
गीतिः पञ्च-विधा तु ता निगदिता शुद्धा च भिन्नाभिधा।
गौडी स्यादथ वेसरा निगदिता साधारणाख्या तथा॥११८
शुद्धा स्यादृजुभिः स्वरैः सुललितैः श्लक्ष्णैस्तु वक्रैः स्वरैर्भिन्ना, गौडभवा (सम-मृदुस्वरै-)—गीतिर्द्रुतैर्वेसरा ॥ ११९ ॥
एतासामेव गीतीनां लक्षणैरुपलक्षिता ।
साधारणाभिधाना च तज्ज्ञैर्गीतिरिहेष्यते ॥ १२० ॥

७ अथ सप्तमं वाद्यादि-स्वर-प्रकरणम्

अत्रैव स्वराणां साधारण्य-धर्म-प्रास्ताव-प्रास्ताव-न्येऽपि चैतेषां धर्मा उच्यन्ते । यथोक्तम्—

Ad: (११५-११६) भ. ११७-११८
(११५-११६) भ. ११७-११८.

M: १ विर्तिष २ स्यादृ ३ रृजुभिः ४ स च ५ र्गौडीति द्रुतैर्वेसरा

" चतुर्विधत्वमेतेषां विज्ञेयं गान-योक्तृभिः ।
वादी चैवार्थ[1] संवादी ह्य[2]नुवादी विवा[3]दिनः" इति ॥१२१

[4]तत्र यो यदांशत्वेनाभि[5]मतोऽपवाद-विषयमुत्सृज्य[6] ग्रहांशापन्यासेषु प्रायः[7] नियतावस्थित[8]त्वेन प्रयोगे बाहुल्येन प्रयुक्तो [9](भवति, स वादी, इत्युच्यते) ॥ १२२ ॥

श्रुति-मण्डले च नव-त्रयोदशान्तरौ परस्परं संवादनाविति । तथैव द्विश्रुत्यन्तराः

षाडवौडविता अल्पत्वादिकरा विवादिन इति ॥१२३॥
शेषा वादि-संवादि-विवादि[10]नः, सख्वलितोच्चारणातुल्य-धर्मिणो[11]ऽनुवादिन इति ॥ १२४ ॥

यथा—

सम्मौ[12] नि [13] सपौ रिधौ गरी म [14] स्वरौ[15] ।
धनी रिगौ विवादिनौ; चतुर्दशानुवादिनः ॥ १२५ ॥

यथा—

समौ सनी सनी सधौ रिपौ रिमौ....।
रिनी गधौ गपौ गमौ [16] पनी स्वरौ ॥ १२६ ॥

तथा च भरतः,

" तत्र यो यत्रांशः स तत्र वादी । ययोश्च नव-त्रयोदशकं परस्परतः श्रुत्यन्तरं तावन्योन्य-संवादिनौ; ययोश्च द्विश्रुतिकमन्तरं तौ विवादिनौ; शेषाश्चा[17]ऽनुवादिनः" इति ॥ १२७ ॥ नन्वेवं काकल्यन्तर-स्वर-प्रयोगेषु श्रुत्युत्कर्षान्नायं वाद्यादि-प्रकारो नियमितुं शक्यत, इति सूत्रेणैवाह—

M: १ -प २ ह्यवि- ३-दिनाए ४ तत्रैयोर्थेदू ५ निमभो- ६ स्व ७ प्रायसा ८-ति- ९ प्रवादिन १०-भिः ११-धर्माणानु १२-मा १३-मो १४-नी १५ ष- १६ गमो गधौ १७ चातुर्वादिन

" षड्ज-पञ्चमौ ऋषभ-धैवतौ गान्धार-निषादौ[1] (षड्ज-मध्यमाविति षड्जग्रामे) । मध्यमग्रामेऽप्येवमेव[2] (षड्ज-पञ्चम-वर्ज्यं) [3] पञ्चमर्षभयोश्चात्र-संवाद इति । ऋषभ-गान्धारौ धैवत-निषादाविति विवादिनौ । वादि-संवादि-विवादिषु प्रस्थापितेषु शेषा अनुवादिन " इति ॥ १२८ ॥

अयमेवार्थो दत्तिलाचार्येणाप्युक्तः, यथा—

" योऽत्यन्त-बहुलो यत्र वादी चांशश्च तत्र सः ।
मिथः संवादिनौ ज्ञेयौ त्रयोदश-नवान्तरौ ॥ १२९ ॥
अतोऽनुवादिनः शेषा द्व्यन्तरौ तु विवादिनौ"
इति ॥ १३० ॥

८ अथ अष्टमं गेयपदादि-प्रकरणम्

गेयपदं स्थितं पाठ्यमासीनं पुष्पगण्डिका ।
प्रच्छेदकं द्विमूढकं प्रत्युक्तमुक्त-भाविके ॥ १३१ ॥
चित्रं पदं सैन्धवकमुत्तमोत्तमकं तथा ।
एते पाठ्य-विशेषास्तु शृङ्गार-रस-संश्रिताः ॥ १३२ ॥
शुष्कं यदासनस्थे तु गीयते गायनैः पदम् ।
वीणा-वेण्वादि-वाद्यं च तद्गेयपदमुच्यते ॥ १३३ ॥
पत्रावलं प्रिय गात्र शास्त्र (?)
संतप्त-गात्र लविका गाय-संस्था (?) ॥

टी० :- (१२८) काकल्यन्तरस्वरों द्वारा श्रुत्यन्तरों में परिवर्तन होता है । उसका स्पष्टीकरण करने हेतु नान्यदेव ने भरतवचन उद्धृत किया है, परन्तु फिर भी उससे मूल शंका का समाधान नहीं किया गया है ।

Ad: (१२९,१३०) D. १८, १९

F: (११७,११८) B. २८।२४,२५

M: १ षड्ज- २ त्रिवादिनेवादि ३ वादुश्च ४-ही ५ मतान्यो ६ पाठे ७ ग्रन्तरौ ८ पुर

यत्प्राकृतं पठति नायक-वर्णनाद्यम् ।
ख्यातं बुधैस्तदिह वैस्थितपाठ्य-संज्ञम् ॥ १३४ ॥
[2]यत्प्रोषित-प्रियतमा[3]नुगुणैक-चिन्ता- ।
संवेग-मन्थर-वि[4]कारमिहास्यते च ॥
निश्चेष्ट-गात्र-पणवादिक-वाद्य-हीनम् ।
आ[5]सीनपाठ्यमिति तत्प्रवदन्ति सन्तः ॥ १३५ ॥
गाथादि-वृत्त-परिपेशल-पा[6]ठ्य-युक्तम् ।
तद्वस्तु-वाद्य-महितं किल गीयते यत् ॥
भाषा-विमिश्रित-विचित्र-पदाभिरामम् ।
रामा वनाश्रयवती खलु पुष्पगण्डा ॥ १३६ ॥
कान्ते कृता मम (?) विशेष-गृहीतमन्यु[7]ः ।
शी[8]तांशु-सीकर-हता कलहान्तरा च ॥
यो सज्जते[10] प्रियकरे[11] निरुदार-चित्ते[12] ।
प्राच्छेदिकं तदिह मान-विभेदि च्चो[13]क्तम् ॥ १३७ ॥
अनि[14]ष्ठुर-श्लक्ष्णे[15]-पदं, स्पष्ट[16]-भावार्थ[17]-वाचकम् ।
वर्ण्यमा[18]न-गुणोपेतं[20], वृ[19]त्तालङ्कार-यो[21]जितम् ॥ १३८ ॥
ताल-मान-कलयोपे[22]शोभितम् ।
वक्र-वाक्य-रचनो[22]-विराजितम् ॥
वर्ण्यमान-गुण-कीर्तनोज्ज्वलम् ।
सं[23]द्वितीयमिह मूढ[24]कं विदुः ॥ १३९ ॥

M: १ द्विहपाठ्यमाद्ग　२ यत्तत्　३ पा　४ विकमिहा–　५ आसीदनपाथ　६ पाठ्य–　७ मान्यं　८ सीतांश　९ –ने　१० यो　११ प्रियवरे　१२ नीतः　१३ ने　१४ स्तरास्वर　१५ क्ष　१६ स्पष्टो　१७ –जु–गु–　१८ प　१९ स्वन्ता　२० सूचिकं　२१ य　२२ नी　२३ सद्वि　२४ –ढ–

संकेतैर्विहितैर्विना गतवती प्रेयस्य पाल.... (?) ।
....सुवहुते प्राकृत-भाषया सपुरुया (?) विप्रलब्धाङ्गना ॥
सुव्यक्तैः करणैरुदार-मधुरैरुद्भ्रान्त-चेष्टैरिदम् ।
प्राहुः सैन्धवकं सदा रस-विधि-ज्ञानैक-दक्षा जनाः ॥ १४० ॥

या खण्डिता पैरुष-भेदक-वाक्य-युक्तम् ।
आरुष्यति प्रियतमं रुचिरायताक्षी ॥
तं वल्लभं प्रणयवत्पुरुषं पुनः सा ।
प्रत्युक्तमुक्तमिति तत्प्रवदन्ति सन्तः ॥ १४१ ॥

या नित्यं प्रिय-संगमोत्सुकमना कान्ता मनाग्हुतम् (?)।
तं सख्यादिभिर्लिख्य पत्र-फलके चेतो विनोदार्थिनी ॥
ब्रूते किं प्रौढ-मन्मथमुपालम्भेन यद्वल्लभम् ।
तच्चित्रं पदमासनन्ति सुधियः स्त्री-पाठ्य-योगे सदा ॥ १४२ ॥

स्वप्ने स्वोदित-वल्लभा सरभसं बाहू प्रसार्यात्मनः
कान्तालिङ्गन-तत्परा सुमनसा संभोगमातन्वती ॥
गैत्वा मन्मथ-विह्वला सुविविधान्भावानसौ चेष्टते ।
प्रागल्भ्यं गैदितं स्वभाव-मधुरं तद्भाविकं भावुकैः ॥ १४३ ॥

वृत्तैर्विचित्र-रचनैः समलङ्कृतं यद्
हेलादिभिः प्रकृतिजैः परिभूषितं च ।
स्वाधीन-नायकतया सुविचित्र-पाठ्यम्
अत्रोत्तमोत्तमकमाहुरिदं विदग्धाः ॥ १४४ ॥

इति श्रीमन्नान्यपति-विरचिते भरतभाष्ये
पञ्चमोऽलङ्काराध्यायः समाप्तः ॥



F: (१२१-१४८) B. १८।१४३-१५६

M: १ सुहुत २ पु- ३ भाष्योत् ४ वनं ५ निदु ६ पोत्र ७ चि ८ ८ ९ तं १० न्म ११ फ्न्य १२ निगतं १३ -रका

शेष-टीका

१ ऐतिहासिक समालोचन

i. इजिप्शियन्, सुमेरियन् तथा असीरियन् आदि संस्कृतियों का इतिहास उपलब्ध हुआ है। सुमेरियन्स के पश्चात् असीरियन् (असुर), खाल्डीयन् तथा बाबिलोनियन् साम्राज्य हुए। एशिया तथा इजिप्त पर इस प्रत्येक जाति ने राज्य किया होने से इनका घनिष्ठ सांस्कृतिक संबंध रहा है। ग्रीक ईरानी तथा भारतीय आर्य एक ही वंश के लोग थे तथा अतीत में एक साथ रहते थे। ग्रीक जाति एशिया से ही ग्रीस में गयी। ईरान में जो आर्य आये थे, उनकी एक शाखा ई० पू० १५००-७०० के मध्य में भारत में प्रविष्ट हुई, ये ही भारतीय आर्य कहलाते हैं। ई० पू० ५६० से ३३० तक इजिप्त, बाबिलोन्, लीडिया, सीरिया, भारत इत्यादि देशों पर ईरानियों का अधिकार था; फलतः इजिप्शियन्, असुर तथा भारतीय संस्कृति का कुछ अंश ईरानियों ने ग्रहण किया। ई० पू० ६०० के पश्चात् ईरानियों ने सिंध तथा पंजाब पर अधिकार किया। डरायस के बेहुस्तिन के शिलालेख (ई० पू ५१७) में गान्धार प्रदेश का उल्लेख है। ई० पू० ३२६ तक ईरानियों की राजधानी तक्षशिला थी। सम्राट् अशोक (ई० पू० २७२–२३२) के तीन शिलालेख में ग्रीक लिपि का तथा दो शिलालेख में खरोष्ठी लिपि का उपयोग किया गया है। खरोष्ठी लिपि ४०० ई० तक उत्तर भारत में चालू रही (Anc. Ind, p. 8) भारतीय स्थापत्य के स्तम्भ, सिंहस्तम्भ, घुमट, पर्वत-शिला-लेख, गुफाएँ इत्यादि ईरानी शैली के चिन्ह माने जाते हैं। ई० पू० ५२५ में ईरानियों ने इजिप्त जीत लिया और वहाँ एक शती तक राज्य किया। पश्चात् के साम्राज्यकर्ता अरबों ने ग्रीक तथा इरानी विद्या एवं कला अपना ली (H. Arab. M., p. 69, 151)। तत्पश्चात् २५० ई० करीब के समय ईरानी **सासानियन्** राजवंश ने पंजाब–सिंध पर शासन किया। द्वितीय शती में शकों का अधिराज्य मध्यभारत से मध्य-एशिया तक के प्रदेश पर प्रचलित हुआ। तात्पर्य, प्राचीन ग्रीक, ईरानी तथा भारतीय संस्कृति का घनिष्ठ संबंध रहा (Cult. Art. Ind, p. 135–138; Hin. Cult, p. 48–49)। इन तीनों जातियों के वंश, धर्म तथा संस्कृति बहुतांश समान ही थीं, संगीत भी एकसमान था।

ii. प्राचीन काल में ग्रीक और भारतीयों का निकट संपर्क रहा। ग्रीक सम्राट् **अलेक्झेंन्डर** (ई० पू० ३२७) के समय से पंजाब में ग्रीकों का राज्य ८० ई० करीब तक रहा।

ग्रीक लोक मूलतः एशिया खण्ड के ही निवासी थे। उनके संगीत का इतिहास ई० पू० ७०० से उपलब्ध है। ग्रीकों के ग्राममूर्च्छनाओं के नाम तथा उनके कतिपय वाद्य पौर्वात्य ही थे (H. M., p. 13)। तीन ग्राम की तथा स्वर विभाग-रूप श्रुतियों की कल्पना ग्रीक संगीत में प्रचलित थी। ग्रीक राग (modes) डोरियन्, लिडियन्, आयोनियन् इत्यादि एशिया मायनर के अन्तर्गत विभिन्न अंचलों के नामों से प्रसारित हुए थे। यवन शब्द आयोनियन् का संस्कृत पर्याय है।

iii. भरतनाट्यशास्त्र में यवन, शक तथा पल्लवों का निर्देश पाया जाता है:—

(१) 'यवनानां शकानां च तत्समावश्च यो गणः । १७ । ५३ ॥'

(२) 'शकाश्च यवनाश्चैव पल्लवा बाल्हिकादयः ॥ २१ । २०३ ॥'

यहां 'यवनाः' से ग्रीकों का निर्देश किया गया है; बाल्हिक से बाख्त्र (Bacteria) का निर्देश है। शकों ने उत्तर एवं मध्यभारत पर १०० ई० से ३८० ई० तक राज्य किया। महाराजा कनिष्क (७८–१०१ ई०) का साम्राज्य मध्य एशिया तक फैला हुआ था। (मध्य एशिया में भारतीय कलाकृति के अवशेष उपलब्ध हुए हैं, जो छठीं से आठवीं शती तक के माने जाते हैं।) आन्ध्र के राज्य कर्ता पल्लवों का समय चौथी शती से दसवीं शती तक का माना जाता है (Anc. Ind , p. 139,269) । इन सभी विदेशी लोगों के कालमान की तुलना करने से सिद्ध होता है, कि भरतनाट्यशास्त्र चतुर्थ शती के पश्चात् तथा मतंग के पूर्व लिखा गया था। भरतनाट्यशास्त्र द्वारा वर्णित ग्राम मूर्च्छना-जाति रूप संगीत तथा प्राचीन ग्रीक संगीत दोनों में अत्यधिक साम्य है। मूर्तिकला में गान्धार-संप्रदाय प्रसिद्ध ही है (Drama, p. 58) ।

iv. रामायण तथा महाभारत में 'मूर्च्छना', 'जाति' एवं विपंची वीणा का उल्लेख है:—

१: (अ) 'पाठ्ये गेये च मधुरं प्रमाणैस्त्रिभिरन्वितम् ।
जातिभिः सप्तभिर्युक्तं तन्त्रीलय समन्वितम् ॥'

(इ) 'तौ तु गान्धर्व तत्त्वज्ञौ स्थान-मूर्च्छन कोविदौ ॥' बा० कां०

२: (अ) 'सप्ततन्त्री प्रथिता चैव वीणा ॥' म० प० १३६।१४॥३॥१३४ ॥

रामायण-महाभारत की जो प्रति आज उपलब्ध है, वह तृतीय से चतुर्थ शती तक निर्माण हुई, ऐसा इतिहासकारों का कथन है (Anc. Ind , 195) । महाभारत के 'हरिवंश प्रकरण में रोमन सिक्का 'दीनार' का उल्लेख है। दीनार सिक्के का प्रवेश भारत में प्रथम से द्वितीय शती तक हुआ। पाणिनीय व्याकरण में नटसूत्रों का उल्लेख है, किन्तु पाणिनि (चतुर्थ शती ई० पू०) से पतंजलि (१४० ई० पू०) के समय तक भरतसंगीत की परिभाषा का निर्देश किसी भी ग्रंथ में उपलब्ध नहीं है। अमरकोश में भरतोक्त '*मार्जना*' संज्ञा उपलब्ध नहीं है।

v. विदेशीयों के साथ भारतीय संगीतादि कलाओं का संपर्क इसके बाद भारत के मोंगल राज्यकर्ताओं के समय में आया। अल्लाउदीन खिलजी का काल सांस्कृतिक आदानप्रदान के लिए अनुकूल नहीं था। मोंगलों का शासन स्थिर होने के पश्चात् शांततामय तथा विलासप्रचुर युग में ही यह हुआ। विशेषतः सम्राट् अकबर के दरबार में एक दो अरबी ईरानी वादक और गायक नौकरी में थे, जो खोरासान, तब्रीज तथा ट्रॅन्सोक्शनिया के निवासी थे (Aa,– vide Tg. c., p. 21) तम्बूर, घिचक और क़ुबुज़ ईरानी वाद्यों के नाम प्रतीत होते हैं। सम्राट् अकबर के समय में अरबी-ईरानी संगीत का परिचय भारतीय संगीतज्ञों को हुआ। किन्तु इस समय भारतीय संगीत अत्यधिक प्रगत हुआ था, भारतीय संगीत के राग, आलाप, ताल तथा ध्रुपदादि प्रबंध प्रगति के शिखर पर पहुँच गये थे, तथा तानसेन, सूरदास जैसे श्रेष्ठ संगीतकार विद्यमान थे, जो भारतीय संगीत को ही गाते बजाते थे।

आईने-अकबरी तथा उर्दू ग्रंथों ने ग्राममूर्च्छनादि भारतीय पद्धति ही स्वीकृत की है। आज भी अरबी ईरानी संगीत भारतीय संगीत की तुलना में निम्न श्रेणी का तथा अविकसित ही है। अतः भारतीयों के लिए ईरानी संगीत में विशेष ग्रहणीय कुछ था ही नहीं। इस युग में कतिपय ईरानी-अरबी राग तथा तानों की कुछ छटाएँ भारतीय संगीतकारों ने अपनायी होंगी। प्रचलित टप्पा-गायन में अफगानी ईरानी तानों का कुछ ढंग पाया जाता है। तुरुष्क गौड, तुरुष्क तोडी इ० यावनी रागों का निर्देश रत्नाकर ने किया है। तत्पश्चात् के ग्रंथकार **पुंडरीक** विठ्ठल आदि ने इराक, माहूर आदि ईरानी रागों के निर्देश तुलना सहित किये हैं।

पं. ग्रीक, ईरानी एवं भारतीय संगीत में कतिपय शास्त्रीय संज्ञाएँ तथा वाद्यों के नाम मिलते-जुलते हैं। मध्ययुगीन अरबी संगीत की संज्ञाएँ ग्रीक, ईरानी तथा भारतीय संगीत से अङ्गीकृत की गयी हैं :—'The most of the technical terms are borrowed from Persian and Indian Language' (M. Arab, p. 114-185) परन्तु अधिक खोज करने के बाद ज्ञात होता है कि ग्रीक, भारतीय आदि वाद्यों के नाम मूलतः सुमेरियन् और खाल्डियन् नामों से सम्बन्धित हैं। इस विषय में कई उदाहरण नीचे दे रहे हैं:—

(१) **सुमेरियन्** :— गिस् बन्; **इजिप्शियन्** :— बन्, बेन, बईन; **संस्कृत** :— वीणा, पिनाकी; **सयामी** :— पिन; **कंबोडियन्** :— किन; **हिन्दी** :— बीन

(२) **सुमे०:**—पन्—तुर (जॉर्जियन्-'तर', 'थिर'; 'तुर'= छोटा + पन् = मनुष्य)
जॉर्जियन्:—पंतुरी; **आर्मेनियन्:**—पंडीर; **यूरोपियन्:**—पॅन्डोरा; **अरब-ईरानी:**—तुंदूर

ग्रीक्स, भारतीय आर्य एवं प्राचीन ईरानी लोगों का आनुवंशिक तथा सांस्कृतिक बातों में पारस्परिक घनिष्ठ संबंध था, अतः इन जातियों की विद्या तथा कलाओं में बहुत कुछ समानता भी थी। इसके अतिरिक्त यह भी स्मरणीय है कि प्राचीन ग्रीस से मध्यएशिया एवं इजिप्त तक के अंचल में संगीत की एक ही प्रणाली प्रचलित थी। यह प्रणाली श्रुति-ग्राम मूर्च्छना के तत्त्वों पर ही आधारित थी, जिसकी विस्तृत चर्चा एक पृथक् विषय है।

[अ० = अरेबियन; ई० = ईरानी; इं० = इंग्लीश; असीरि० = असीरियन; सं० = संस्कृत; **सुमे०** = सुमेरियन; **जॉर्जि०** = जॉर्जियन्; **खाल्डी०** = खाल्डीयन; हिं० = हिंदी; **अक्का०** = अक्काडीयन्;]

सुमे०:—इनिते (इनिन — ए = सम + स्वर); **संस्कृत०:**—वेणु

सुमे०:—ना; **अक्काडियन्०:**—नपु; **अरबी:**—ने, सुरनई; **इं०**—नाई; अंबान = Bag-pipe
हिं०:—शहनाई

सिरीयन्०:—तमिल; **जॉर्जि०:**—डपडपी; **सं०:**—दुन्दुभि

सुमे०:—अडब, अडप; **अरबी:**—तब्ल; **मोरक्को:**—डेफ; **हिब्रू:**—टोफ; **सं:**—डमरु; **हिं०:**—डफ

खाल्डी०—कत्ल (इ० पू० ११००); **सं०:**—करताल

(३) **सुमे०:**—शिमिटु = दो तारवाली; **असीरियन्:**—शलश्तु = तीन तारवाली (वीणा);
ईरानी:—चहतार = ४. तारवाली; **संस्कृत:**—चित्रा; **हिन्दी:**—सितार; **ग्रीक:**—किथारा;

लेटिन्:-सिथारा; इटैलियन्:-चितारा; स्पैनिश:-गिटारा; अँग्लोसॅक्सन्:-सिटेर; पुरानी इंग्लिश:-सिट्टर्न; जर्मन्:-क्षिटर

सिथारा वीणा का प्रचार मध्ययुगीन यूरप में अत्यधिक था। स्टिरियन् तथा बव्हेरियन आल्प्स् पहाड के काश्तकारों का यह एक परंपरागत वाद्य था, जिसे भूमि पर आडी रखकर अंगुष्ठ, दूसरी और तीसरी अंगुलि से बजाया जाता था। अंगुष्ठ में एक छल्ला (ring) डालते थे। मुक्त तन्त्रियाँ षड्ज, मध्यम तथा पंचम में मिलायी जाती थीं। इस वीणा में पर्दे भी होते थे; किन्तु कई तन्त्रियाँ मुक्त प्रकार से और कई पर्दों पर दबा कर बजायी जाती थीं (Catg. Mus, p. 168)।

ग्रीक:-हार्मोनिया; सं०:-ग्राम; अ०:-मज्रा; ग्रीक:-टोनोइ; सं०:-तान; अ०:-तानिन; इं०:-टोन

ग्रीक:-जेनेरा; सं०:-जाति; अ०:-अज्नास

सुमे०:-करन (ई० पू० ३३९०); अक्का:-करनु; इं०:-करन; हिं०:-कर्णा

सुमे०:-सीम, सिमिडु, सीमु; सं०:-शंग

असीरि०:-शरसेना; हिब्रु:-शमारू, शिम्रा; सं०:-साम; इं०:-साम (Psalm)

असीरि०:-नग्गु; सं०:-नाद; अ० नग्म (= स्वर); हिं०:-नगारा

असीरि०:-निगुत; सं०:-गीत (संगीत); हिब्रु:-नगान (=वादन); अ०:-घीना (गायन); निगिना (= वादन)

असीरि०:-शिरू (hymn—मंत्र); सं०:-ऋक्; इं०:-शिर (गीत); अ०:-शरू, शाहीर (गायक); [सं०:-ऋषी (गीत-रचनाकार)

सं०:-षड्ज; अ०:-सजाह, शुहाज, नियाह (सप्तक)

सं०:- अंश; अ०:-अक्षाम (= विभाग)

सं०:-अवसान; अ०:-अवझान (measures)

सं०:-किंनरी; अ०:-किरन, किन्नार, किन्नोर; हिब्रु०:-किन्नॉर; चिनी:-किन

ईरानी:-कमान; सं०:-कम्रा

सं०:-दारवी (वीणा); अ:-उद (= लकडी, wood)

अ०:-शाहरूद (arch-lute); हिं०:-सरोद.

[Ref: Sumer. Mus.; Mus. Anc. Nat.; Catg. Mus.; Anc. Arab. M. Instru.; Hist. Fact. Arab.; Hist. Arab. Mus.; M. Instru. Arab.; Encycl. Mus., I.]



२ वेद-कालीन वीणा वीणाएँ

i. संगीत के विकास में वीणा-वाद्यों का सहकार अत्यंत आवश्यक एवं महत्त्वपूर्ण माना गया है। स्वरस्थान, स्वर-सप्तक, स्वर-संवाद, गमक-क्रिया इत्यादि का उद्भव तथा ज्ञान तन्त्री-वाद्यों की सहायता से ही हो सकता है। स्वयम्भू स्वरों की अनुभूति भी तानपूरे जैसी उच्च श्रेणी की विशिष्ट वीणा द्वारा ही हो सकती है। सारांश राग-संगीत का तथा संगीतशास्त्र का निर्माण होना बहुतांश तन्त्री-वाद्यों के विकास पर निर्भर है। विशिष्ट युग की वीणाएँ ज्ञात होने से उस युग के

संगीत का स्वरूप भी ज्ञात हो सकता है। संगीत का इतिहास अवलोकन करने से प्रतीत होता है कि वाद्यों में प्रथम वाद्य वेणु निर्माण हुई।

ii. वेदों में वीणा के कुछ उल्लेख उपलब्ध हैं जो बहुत स्पष्ट नहीं हैं। वैदिक विद्वानों के मतानुसार 'कर्करी' एवं 'गर्गरी' शब्द ऋग्वेद आदि में वीणा के अभिवाचक हैं (ऋ० वे० २।४३।३; ८।६९।९; अ० वे० ४।३७।४)। इसी प्रकार 'आडम्बर' शब्द वेद में वीणा के लिए प्रयुक्त हुआ है (य० वा० सं० ३०।६।१९।२०)। प्राचीन वीणाओं की नामावली में 'औदुंबरी' नाम नान्यभूपाल ने दिया है, जो आडंबर शब्द के सदृश है। इसके पश्चात् ऐतरेयारण्यक में वीणा का अस्पष्ट वर्णन उपलब्ध है:—

"अथ खल्वियं दैवी वीणा भवति, तदनुकृतिरसौ मानुषी वीणा भवति। यथाऽस्याः शिरः, एवममुष्याः शिरः; यथाऽस्या उदरमेवममुष्या अम्भणम्; यथाऽस्यै जिह्वा, एवममुष्यै वादनम्। यथाऽस्यास्तन्त्रयः, एवममुष्या अङ्गुलयः; यथाऽस्याः स्वराः, एवममुष्याः स्वराः; यथाऽस्याः स्पर्शाः, एवममुष्याः स्पर्शाः; यथा ह्येवेयं शब्दवती तर्द्मवती, एवमसौ शब्दवती तर्द्मवती, यथा ह्येवेयं लोमशेन चर्मणाऽपिहिता भवति, एवमसौ लोमशेन चर्मणाऽपिहिता।" इ०
—ऐ० आ० ३।२।५

वीणा के उपर्युक्त वर्णन से इतना ही ज्ञात होता है, कि इस वीणा में तन्त्रियाँ तथा बालवाला चमड़ा लगाया जाता था। तर्द्म का अर्थ है—सुराख।

हार्प (कानून) वीणा बहुत ही प्राचीन वाद्य है। आठ तारवाला सुमेरियन् कानून का चित्र उपलब्ध हुआ, है, जो ई० पू० २००० वर्ष पहले का माना जाता है (Sumer. Mus. p. 86)। कानून-जातिक वीणाओं का प्रचलन प्राचीन एशिया माइनर, चीन तथा इजिप्त आदि देशों में अत्यधिक रहा; बाद में उसका प्रचार यूरप में भी हुआ। इजिप्त और एशिया माइनर में इस वीणा की प्राचीन मूर्ति तथा चित्र आदि विपुल उपलब्ध हुए हैं। भारत में अमरावती (द्वितीय शती), गोली गुंतुर (२५० ई०) साची आदि के मंदिरों में तथा समुद्रगुप्त (३३०–३७० ई०) और कुमारगुप्त (४१४–४४५ ई०) की मुद्रा में हार्प की मूर्ति पायी गयी है।

iii. वैदिक 'आघाटी' का अर्थ एक लेखक ने वीणा किया है (मु०, पृ० ४३)। किन्तु वैदिक पंडितों के मतानुसार इस शब्द का अर्थ मँजिरा होता है (अ० वे०, ४।३७।४; ऋ० वे०, १०।१४६।२)। 'तुणव' तथा 'वाण' शब्द वेदों में बाँसुरी के लिए प्रयुक्त हुए हैं (ऋ० वे०, १।८५।१०)। वीणा-वाचक वैदिक तथा संस्कृत शब्द आडम्बर तथा औदुम्बरी दोनों पर्शियन 'तंबूर' शब्द से संबंधित प्रतीत होते हैं। अर्थात् यह केवल शब्द-साम्य समझना चाहिए। कारण, वेदों में उपलब्ध निर्देश वीणा के विशिष्ट स्वरूप के बोधक नहीं हैं।

३ भरत-कालीन वीणाएँ

i. भरतमुनि ने (१) चित्रा, (२) विपंची, (३) कच्छपी तथा (४) घोषक, इन चार वीणाओं का निर्देश किया है; इनमें प्रथम की दो वीणाएँ मुख्य एवं कच्छपी और घोषक को उपवीणाएँ कही हैं:—

'विपञ्ची चैव चित्रा च दारवीष्वङ्ग-संज्ञिते ।
कच्छपी-घोषकादीनि प्रत्यङ्गानि तथैव च ॥ ३४ । १४ ॥'

वीणाओं का वर्णन करनेवाला एक ही श्लोक नाट्यशास्त्र में उपलब्ध है, उससे इतना ही ज्ञात होता है, कि चित्रा वीणा में सात तार और विपंची में नौ तार लगाते थे तथा उनको क्रमशः उंगलियों से तथा 'कोण' से बजाया जाता था:—

'सप्ततन्त्री भवेच्चित्रा, विपञ्ची नवतन्त्रिका ।
कोणवाद्या विपञ्ची स्याच्चित्रा चाङ्गुलि-वादना ॥ २९ । ११४ ॥'

नान्यभूपाल ने चित्रा का वादक मतंग को बताया है एवं मतंग का अपर नाम 'चैत्रिक' कहा है:—

'चित्रोक्ता सप्ततन्त्रीभिर्व्यक्ति सप्त स्फुटान्स्वरान् ।
मतंगो वादकस्तस्याश्चैत्रिको नाम नापरः ॥'

नान्यभूपाल के कथनानुसार विपंची में काकल्यन्तरसहित सप्त स्वर के नौ तार होते थे:—

'पूर्ण-स्वैर्नियमिता या प्रावुक्ता तु तद्विदः ।
दारवी सप्त-तन्त्रीका मिलाह मिथिलाधिपः ॥
येषा सप्तस्वरा, ग्रामः काकल्यन्तर-संयुतः ।
विदुस्तां नवतन्त्रीकां वीणा वीणाविदः सदा ॥'

रत्नाकर ने प्राचीन घोषकादि पाँच वीणाओं का वर्णन किया है, उससे प्रतीत होता है, कि घोषक, चित्रा विपंची आदि चार वीणाएँ सरोद-जातिक थीं, तथा पाँचवीं मत्तकोकिला वीणा, कानून जाति की थी ।

ii. मत्तकोकिला में तीन सप्तक के लिए २१ तार थे, अतः वह मुख्य वीणा कहलाती थी:—

'तन्त्रीणामेकविंशत्या कीर्तिता मत्तकोकिला ॥६।११२॥
मुख्येयं सर्व-वीणाना त्रिस्थानैः सप्तभिः स्वरैः ।
संपन्नत्वात्तदन्यास्तु तस्याः प्रत्यङ्गमीरिताः ॥११३॥'

इक्कीस तारवाली वीणा का नाम नान्यदेव ने 'महती' दिया है और कहा है, कि इस दुनिया में नारद के अतिरिक्त अन्य कोई इस वीणा को बजा नहीं सकता:—

'एकविंशतितन्त्रीका नारदोऽनादयन्मुनिः ।
अत्र व्यक्तास्त्रयो ग्रामाः स्फुटाः सप्त स्वरा अपि ॥
त्रि ग्राम स्वर-संस्थाभिस्तन्त्रीभिर्महतीति या ।

नारदो वादकस्तस्या नापरो दिवि विश्रुतः ॥
...एकविंशतितन्त्रीभिर्महती नारदीति च ॥'

मत्तकोकिला का लौकिक नाम कल्लिनाथ ने 'स्वरमंडल' बताया है। मत्तकोकिला वीणा का नामनिर्देश तक नाट्यशास्त्र में नहीं है।

iii. घोषक वीणा का नान्यदेवोक्त वर्णन संदिग्ध प्रतीत होता है। एकतन्त्री वीणा में उदात्त यह एक ही स्वर, द्वितन्त्री में उदात्त अनुदात्त मिल कर दो स्वर इत्यादि व्यवस्था उसने बतायी है। एकतन्त्री घोषक वीणा से एक उदात्त स्वर निकलता है तथा अनेक स्वर, ग्राम एवं मूर्च्छनाएँ भी पैदा होती हैं, ऐसा नान्यदेव ने लिखा है:—

(अ) 'श्रुति-स्वर-ग्राम-मूर्च्छा-तान-मण्डल-योगिनी ।
विज्ञेया त्वेकतन्त्रीका केवलोदात्त-नामकः ॥'

(क) 'श्रुतयोऽथ स्वरा मूर्च्छास्ताना नानाविधास्तथा ।
एकतन्त्रीक-वीणायां सर्वमेतत्प्रतिष्ठितम् ॥'

iv. नाट्यशास्त्र में आये हुए उल्लेखों से प्रतीत होता है, कि वादन-क्रिया के लिए विपंची तथा चित्रा दो ही वीणाओं का उपयोग होता था:—

(अ) 'तत्र चित्रायां संक्षिप्त-वाद्यम्...... ।'

(क) 'वक्ष्येऽधुना विपञ्ची-वाद्य-विधाने तु करणार्थम् ।'
......द्वाभ्यामपि वीणाभ्यां गाने वा वादने वाऽपि ।'

(ख) 'सप्ततन्त्री भवेच्चित्रा विपञ्ची नवतन्त्रिका ।
विपञ्ची कोण-वाद्या स्यात्, चित्रा चाङ्गुलि-वादना ॥'

(ग) 'एवं येषा तज्ज्ञैर्नाना-करणाश्रया विपञ्ची तु ।'

(घ) 'धातुभिश्चित्र-वीणायां गुरुलघ्वक्षरान्वितम् ।
वर्णालङ्कार-संयुक्तं प्रयोक्तव्यम् बुधैरथ ॥९।४३॥'

(च०) 'ततो कुतप-विन्यासो गायनः सपरिग्रहः ।
वैपञ्चिको वैणिकश्च वंश-वादस्तथैव च ॥२८।४॥'

नाट्यशास्त्र में आये हुए 'वैणिक' शब्द का अर्थ 'मत्तकोकिला-वादक', इस प्रकार एक विद्वान ने किया है; परन्तु इस अर्थ के लिए आवश्यक शास्त्राधार नहीं है।

v. रामायण में 'मत्तकोकिला' वीणा का निर्देश आया है, ऐसा इन्हीं विद्वानों द्वारा कथन है; किन्तु रामायणान्तर्गत उक्त निर्देश वीणा के संबंध में नहीं हो कर कोकिला पक्षी के वर्णनात्मक है:—

'मारुतश्रलितस्थानैः षट्पदैरनुगीयते ॥ १४ ॥
मत्तकोकिल-संनादैर्नर्तयन्निव पादपान् ॥' इ०
— किष्किन्धा० १

सुन्दरकाण्ड में आडम्बर वीणा का निर्देश है (१०।४९)।

vi भरतमुनि ने वीणावादन की रीति बतायी है, उसमें 'धातु' याने मिज़राब का प्राधुर्य है। उदाहरणार्थ —

"द्विरथोत्तराधरान्तौ द्विरधरश्चोत्तर निरामश्च ॥२९।५८॥
द्विरथोत्तरावसानोऽधरादिरुत्तर गुरो द्विरधरश्च ॥" इ०

" द्वित्रिचतुष्कनवकैः प्रहारैः क्रमशः शनैः।
आविद्ध धातुर्विज्ञेय सानुबन्ध विभूषित ॥६४॥" इ०

"ये प्रहार विशेषोत्था स्वरास्ते धातवो मता ॥६।१२५॥" स० र०

"आदौ मन्द्रमुच्चार्य पश्चात्तारोच्चारणम्, उत्तराधरय तव।
त्रिधार तार-स्वराभिघातात्, त्रिस्वर। ... एको
लघु, गुरुद्वय च क्षेप। नवभिर्लघुभिरतिकीर्ण ॥"

..."एकस्मिन्नेव स्वरे क्रमात् सर्वाभि कृतो धातो रेफ। दक्षिण-कनिष्ठाभ्यामध सरन्, गच्छन्, स्थानत्रय एकस्वर तन्त्री-त्रय यत्र पृथक् हन्ति, तदवमृष्टम्॥ १४१–१९१॥" (–सिं०)

vii प्राचीन अनेक वीणाओं का एक साथ वादन किया जाता था, उस वादन को 'करण' सज्ञा देते थे। इस प्रकार के सामूहिक वादन में भी मिज़राब का काम ही मुख्यत होता था —

'मुख्यो वैणिक मत्तकोकिल्या यदा लघुद्वय वादयते, तथा विपञ्च्यादि-वीणाभि तद्विधि गुरु क्रियते स प्रतिभेद ॥ ११४–१२३॥' (–सिं०)

उपरिनिर्दिष्ट मिज़राब के प्रकार देखने से सिद्ध होता है, कि भरत-कालीन विपञ्च्यादि वीणाएँ कानूनजातिक ही थीं।

रत्नाकर ने घोषकादि चार वीणाएँ, यद्यपि सरोदजातिक बतायी हैं तथा 'कम्प्रासारणा' भी कही है, तथापि इस प्रकार की वादन क्रिया कानून पर भी समाहित हो सकती है —

(अ) 'स्वर स्थाने द्रुत कम्प्र-सारण मूर्च्छना मता ॥ ८४॥'

(इ) 'शुद्ध सारणया तन्त्री घर्षण खसितो मत ॥ ८६॥'

विपञ्च्यादि के विषय में नान्यदेव तथा रत्नाकर ने जो कतिपय मतभेद निर्दिष्ट किये हैं, उनसे एव अन्य कारणों से प्रतीत होता है, कि विपञ्च्यादि कानून-जातिक वीणाएँ नान्यदेव के समय-पूर्व ही प्रचार में कम हो गयी थीं।

viii घोषक वीणा के वादन का भरतमुनि ने किंचित् उल्लेख किया है, जिससे हम अनुमान लगा सकते हैं कि, विपञ्ची एव चित्रा वीणा के स्थायी स्वर का परिपोषक घोषक की ध्वनि से होता था।

(अ) 'प्रतिशुष्का विज्ञेया वाद्ये संदेहकतन्त्रिकृता ॥ २९। ८०॥ का० ७

इस वीणा का घोषक यह नाम भी सूचक है।

(इ) **पाणिनीय** शिक्षा में 'अलाबु' वीणा का निर्देश है, उसमें 'निर्घोष' शब्द प्रयुक्त हुआ है, *जिससे अनुमान कर सकते हैं, कि अलाबु वीणा का प्रयोग तानपूरे के समान* होता होगा –

'अलाबु–वीणा–निर्घोषो दन्तमूल्य स्वरानुग ॥२३॥'

रशियन् लेखक डॉ॰ **मीरवर्थ** ने तानपुरे की ध्वनि को a pleasant humming sound इन शब्दों से वर्णित किया है। (Instru , p 8) यही अभिप्राय 'निर्घोष' शब्द से व्यक्त होता है। अलाबु शब्द से तुंबी फल का अर्थ ध्वनित होता है। तानपुरे की पर्यायी सज्ञा 'तबोरा' यह भी तुंबीफल की अभिवाचक होगी, यद्यपि अनेक प्रकार की 'तबूर' वीणा ईरानी अरबी सगीत में मध्ययुग में प्रचलित थी।

अलाबु वीणा में दो तार लगाये जाते थे, ऐसा नान्यदेव का कथन है –

'द्वितन्त्रीका तु विज्ञेया, अलाबूपाङ्ग–सज्ञिता।' (–पृ॰ १८४)

अलाबु वीणा का निर्देश अन्य ग्रन्थों में उपलब्ध नहीं है।

(उ) **तानपुरे** को फ्रेन्च प॰ **ग्रॉसो** (J Grosset) ने तुबरू वीणा बतायी है (Encycl Mus I, p 346), किन्तु तुबरू वीणा का नाम ही कल्पित है।

IX प॰ ग्रामिक सप्तक के शुद्ध गान्धार को दो श्रुति चढ़ा करने से प॰ ग्रामिक वीणा की म॰ ग्रामिक वीणा बन जाती थी, इस युक्ति को भरतमुनि ने 'द्विविधैक-मूर्च्छना' की विधि कही है। इस विधि से भी सिद्ध होता है कि, भरत-सगीत की वीणाएँ कानून-जातिक थीं तथा उनका स्वरक्षेत्र सकुचित था। अनेक वीणाओं के एक साथ वादन की रीति भरतयुग मे 'करण' नाम से प्रचलित थी। प्राय दो या तीन वीणाओं से दो या तीन सप्तक का क्षेत्र प्राप्त करने के लिये 'करण' का उपयोग किया जाता होगा। सकुचित वीणाओं के कारण ही भरत के समय में मूर्च्छना क्रिया अनिवार्य रूपेण आवश्यक थी। इसी प्रकार मूर्च्छना के सपूर्ण, षाडव, औडव तथा सान्तरा या सकाकली प्रकार भरतसगीत में पृथक् पृथक् मानते थे, इसमें भी मर्यादित क्षेत्रयुक्त कानून वीणा का कारण होना चाहिए।

तानीकरण में वर्जित स्वर का अर्थात् स्वर की तन्त्री का 'प्रवेश' प्रकर्ष द्वारा याने चढ़ा कर अथवा 'मार्दव' द्वारा याने उतार कर पूर्वोत्तर स्वर में कर लेने को कहा है, यह क्रिया कानून वीणा के लिये ही आवश्यक है। उसी प्रकार ग्रामों में मूर्च्छनाओं के अनेक द्विरुक्त प्रकार तथा तानों के गणितागत असख्य प्रकार सकुचित कानून पर अपेक्षित स्वरक्षेत्र स्थापन करने के प्रयत्न रूप पैदा हुए थे। ग्रीक सगीत में भी यही प्रचार था। (*Artx , p 19 20, H , p 269*)

X बृ॰ दे॰ का वाद्याध्याय लुप्त है। तान प्रकरण में मतग ने 'पट्पष्ठितन्त्री' तथा 'शततन्त्री' इस प्रकार दो वीणाओं का निर्देश किया है –

'तदेवमेतेषा स्वराणा तान विधान पट्पष्ठितन्त्र्या शततन्त्र्या चोपलभ्यते।' (पृ॰ ३१)

नान्यदेव का कथन है कि उक्त वीणाएँ यज्ञ सगीत में प्रयुक्त होती थीं –

'अष्टौ द्वादश तन्त्र्यश्च यासा तन्त्र्या शत तथा।
ता सर्वा यज्ञयोगिन्यो वीणा वीणाद नामिका (?) ॥'

सितार जैसी पर्देवाली वीणाएँ, 'ख्याल'-प्रबंध तथा थाट वर्गीकरण आदि अमीर खुसरो ने निर्माण किया, ऐसा कतिपय विद्वानों ने लिखा है। पर्देवाली वीणा का इतिहास पूर्व में ही देखा जा चुका है। कौल एवम् तराना खुसरो ने समत तथा सितार के सहाय से बनाये, ऐसा आईने-अकबरी के लेखक ने लिखा है (Aa.-Tg. c., p. 204)। खुसरो फारसी के कवि थे, जिस कारण से कौलकव्वाली गीतों की तर्जें बनाने के लिए उन्हें गायकों का सहाय लेना पड़ा होगा। एक पंडित ने उक्त 'समत' को संगीत 'समिति' तक बना डाली है। (ह०, पृ० ३०८) वीणाएँ तथा थाट आदि पैदा करने का श्रेय आईने-अकबरी ने खुसरो को नहीं दिया है। इस सम्बन्ध में मुस्लिम गायकवादकों से सुनी हुई किंवदंतियों के आधार पर श्री शौरीन्द्रमोहन टागोर तथा कॅ० विलार्ड ने जो कुछ लिखा है, उससे यह अद्भुत कल्पनाओं का जन्म हुआ। तत्पश्चात् हिन्दुस्तानी संगीत शास्त्र के लेखकों ने एवं हिन्दुस्तानी संगीत को विकृत दृष्टि से देखनेवाले भरत-संगीत के भक्तों ने भी इन्हीं कपोल-कल्पित बातों को इतिहास मान कर दोहराने से इन बातों का अत्यधिक प्रचार हुआ। खुसरो ने संगीत के कोई आविष्कार किये होते, तो उसने लिखी हुई आत्मचरित्र की पुस्तक में उसका उल्लेख वह अवश्य करता। परन्तु वैसा उल्लेख खुसरो के आत्म चरित्र में उपलब्ध नहीं है (Khus., p. 238-240)।



४ वैज्ञानिक स्वर-सप्तक की सिद्धि

1. वैज्ञानिक (= पाश्चात्य) स्वर-सप्तकों की सिद्धि स्वयंभू (Harmonics) स्वरों के आधार पर की जाती है। किसी भी एक स्वर द्वारा उसके साथ अनेक स्वर सूक्ष्म रूप में पैदा होते हैं, जिनको उत्स्वर (Upper partials) नाम से पहचानते हैं। ऐसे अनेक उत्स्वरों में से द्वितीय स्वर तार षड्ज, तृतीय पंचम तथा पाँचवा उत्स्वर तीव्र गान्धार अभ्यास से सुने जा सकते हैं। षड्ज के साथ का इन स्वरों का मिश्रण, अनेक वैज्ञानिक कारणों से, सुननेवाले को सुखदायी प्रतीत होता है; अतः इन स्वरों को षड्ज के संवादी कहा जाता है। इसके आगे के उत्स्वर सातवाँ आदि बहुत ही कम सुनाई देते हैं। षड्ज के साथ होनेवाला पंचम का केवल एक ही संवाद शास्त्रकारों को अभी अभी तक ज्ञात था। षड्ज के साथ तीव्र गान्धार का संवाद भी कुछ अंश तक होता है, यह सिद्धान्त जर्मन् विज्ञानवेत्ता हेल्महोल्ट्ज् (१८६२ ई०) ने प्रयोगों द्वारा सिद्ध करने के पश्चात् उन्नीसवीं शती में ही सर्वमान्य हुआ।

वैज्ञानिक स्वरशास्त्र के अनुसार आधारस्वर षड्ज द्वारा प्रथमत. स्वर-त्रितय का ज्येष्ठ सूत्र सिद्ध होता है, एवं तत्पश्चात् उसके प्रमुख सवादी पंचम का स्वर-सूत्र सिद्ध होता है। 'मध्यम' नामक स्वर षड्ज-पंचम का ही व्यत्यास रूप है, अर्थात् सा-प यही म-सा है। स्वर-सप्तक के निर्मिति में उक्त तीन प्रमुख स्वरों के त्रि-स्वर-सूत्र कारण हैं, जो इस प्रकार हैं:—

सा → ग → प
म → ध → सां
प → नि → रें

(इ) पाणिनीय शिक्षा में 'अलाबु' वीणा का निर्देश है, उसमें 'निर्घोष' शब्द प्रयुक्त हुआ है, जिससे अनुमान कर सकते है, कि अलाबु वीणा का प्रयोग तानपूरे के समान होता होगा –

'अलाबु–वीणा–निर्घोषो दन्तमूल्य स्वरानुग ॥२३॥'

रशियन् लेखक डॉ० मीरस्वर्थ ने तानपुरे की ध्वनि को a pleasant humming sound इन शब्दों से वर्णित किया है। (Instru, p 8) यही अभिप्राय 'निर्घोष' शब्द से व्यक्त होता है। अलाबु शब्द से तुंबी फल का अर्थ ध्वनित होता है। तानपुरे की पर्यायी संज्ञा 'तंबोरा' यह भी तुंबीफल की अभिवाचक होगी, यद्यपि अनेक प्रकार की 'तंबूर' वीणा ईरानी अरबी संगीत में मध्ययुग में प्रचलित थी।

अलाबु वीणा में दो तार लगाये जाते थे, ऐसा नान्यदेव का कथन है –

'द्वितन्त्रीका तु विज्ञेया, अलाबूपाङ्ग–संज्ञिता।' (–प० १८४)

अलाबु वीणा का निर्देश अन्य ग्रन्थों में उपलब्ध नहीं है।

(उ) तानपुरे को फ्रेन्च प० ग्रॉसो (J Grossot) ने तुंबरू वीणा बतायी है (Encycl Mus I p 346), किंतु तुंबरू वीणा का नाम ही कल्पित है।

IX प० ग्रामिक सप्तक के शुद्ध गान्धार को दो श्रुति चढ़ा करने से प० ग्रामिक वीणा की म० ग्रामिक वीणा बन जाती थी, इस युक्ति को भरतमुनि ने 'द्विविधैक मूर्च्छना' की विधि कही है। इस विधि से भी सिद्ध होता है कि, भरत-संगीत की वीणाएँ कानून–जातिक थीं तथा उनका स्वरक्षेत्र संकुचित था। अनेक वीणाओं के एक साथ वादन की रीति भरतयुग में 'करण' नाम से प्रचलित थी। प्राय दो या तीन वीणाओं से दो या तीन सप्तक का क्षेत्र प्राप्त करने के लिये 'करण' का उपयोग किया जाता होगा। संकुचित वीणाओं के कारण ही भरत के समय में मूर्च्छना क्रिया अनिवार्य रूपेण आवश्यक थी। इसी प्रकार मूर्च्छना के संपूर्ण, षाडव, औडव तथा सान्तरा या सकाकली प्रकार भरतसंगीत में पृथक् पृथक् मानते थे, इसमें भी मर्यादित क्षेत्रयुक्त कानून वीणा का कारण होना चाहिए।

तानीकरण में वर्जित स्वर का अर्थात् स्वर की तन्त्री का 'प्रवेश' प्रकर्ष द्वारा याने चढ़ा कर अथवा 'मार्दव' द्वारा याने उतार कर पूर्वोत्तर स्वर में कर लेने को कहा है, यह क्रिया कानून वीणा के लिए ही आवश्यक है। उसी प्रकार ग्रामों में मूर्च्छनाओं के अनेक द्विश्रुत प्रकार तथा तानों के गणितागत असंख्य प्रकार संकुचित कानून पर अपेक्षित स्वरक्षेत्र स्थापन करने के प्रयत्न रूप पैदा हुए थे। ग्रीक संगीत में भी यही प्रचार था। (Arts, p 19 20, H, p 203]

X बृ० दे० का वाद्याध्याय लुप्त है। तानप्रकरण में मतंग ने 'षट्पञ्चितन्त्री' तथा 'शततन्त्री' इस प्रकार दो वीणाओं का निर्देश किया है –

'तदेवमेतेषां स्वराणां तान विधान षट्पञ्चित–त्र्यां शततन्त्र्यां चोपलभ्यते।' (पृ० ३१)

नान्यदेव का कथन है कि उक्त वीणाएँ यज्ञ संगीत में प्रयुक्त होती थीं –

'अष्टौ द्वादश तन्त्र्यश्च यासां तन्त्र्या शतं तथा।
ता सर्वा यज्ञयोगेषु वीणाद–नामिका (?) ॥'

सितार जैसी पर्देवाली वीणाएँ, 'ख्याल' प्रबंध तथा थाट वर्गीकरण आदि अमीर खुसरो ने निर्माण किया, ऐसा कतिपय विद्वानों ने लिखा है। पर्देवाली वीणा का इतिहास पूर्व में ही देखा जा चुका है। कौल एवम् तराना खुसरो ने समत तथा तेतार के सहाय से बनाये, ऐसा आईने-अकबरी के लेखक ने लिखा है (Aa.-Tg. c, p. 204)। खुसरो फारसी के कवि थे, जिस कारण से कौलकव्वाली गीतों की तर्जें बनाने के लिए उन्हें गायकों का सहाय लेना पड़ा होगा। एक पंडित ने उक्त 'समत' को संगीत 'समिति' तक बना डाली है! (५०, पृ० ३०८) वीणाएँ तथा थाट आदि पैदा करने का श्रेय आईने-अकबरी ने खुसरो को नहीं दिया है। इस सम्बन्ध में मुस्लिम गायक-वादकों से सुनी हुई किंवदंतियों के आधार पर श्री शौरीन्द्रमोहन टागोर तथा कॅ० विलार्ड ने जो कुछ लिखा है, उससे यह अद्भुत कल्पनाओं का जन्म हुआ। तत्पश्चात् हिन्दुस्तानी संगीत शास्त्र के लेखकों ने एवं हिन्दुस्तानी संगीत को विकृत दृष्टि से देखनेवाले भरत-संगीत के भक्तों ने भी इन्हीं कपोल-कल्पित बातों को इतिहास मान कर दोहराने से इन बातों का अत्यधिक प्रचार हुआ। खुसरो ने संगीत के कोई आविष्कार किये होते, तो उसने लिखी हुई आत्मचरित्र की पुस्तक में उसका उल्लेख वह अवश्य करता। परन्तु वैसा उल्लेख खुसरो के आत्म-चरित्र में उपलब्ध नहीं है (Khus., p. 238-240)।



४ वैज्ञानिक स्वर-सप्तक की सिद्धि

i. वैज्ञानिक (= पाश्चात्य) स्वर-सप्तकों की सिद्धि स्वयंभू (Harmonics) स्वरों के आधार पर की जाती है। किसी भी एक स्वर द्वारा उसके साथ अनेक स्वर सूक्ष्म रूप में पैदा होते हैं, जिनको उत्स्वर (Upper partials) नाम से पहचानते हैं। ऐसे अनेक उत्स्वरों में से द्वितीय स्वर तार षड्ज, तृतीय पंचम तथा पाँचवा उत्स्वर तीव्र गान्धार अभ्यास से सुने जा सकते हैं। षड्ज के साथ का इन स्वरों का मिश्रण, अनेक वैज्ञानिक कारणों से, सुननेवाले को सुखदायी प्रतीत होता है; अतः इन स्वरों को षड्ज के संवादी कहा जाता है। इनके आगे के उत्स्वर सातवाँ आदि बहुत ही कम सुनाई देते हैं। षड्ज के साथ होनेवाला पंचम का केवल एक ही संवाद शास्त्रकारों को अभी अभी तक ज्ञात था। षड्ज के साथ तीव्र गान्धार का संवाद भी कुछ अंश तक होता है, यह सिद्धान्त जर्मन् विज्ञानवेत्ता हेल्महोल्ट्ज् (१८६२ ई०) ने प्रयोगों द्वारा सिद्ध करने के पश्चात् उन्नीसवीं शती में ही सर्वमान्य हुआ।

वैज्ञानिक स्वरशास्त्र के अनुसार आधारस्वर षड्ज द्वारा प्रथमतः स्वर-त्रितय का ज्येष्ठ सूत्र सिद्ध होता है, एवं तत्पश्चात् उसके प्रमुख संवादी पंचम का स्वर-सूत्र सिद्ध होता है। 'मध्यम' नामक स्वर षड्ज-पंचम का ही व्यत्यास रूप है, अर्थात् सा-प यही म-सा है। स्वर-सप्तक के निर्मिति में उक्त तीन प्रमुख स्वरों के त्रि-स्वर-सूत्र कारण हैं, जो इस प्रकार हैं:—

सा → ग → प
म → ध → सा
प → नि → रें

(इ) **पाणिनीय** शिक्षा में 'अलाबु' वीणा का निर्देश है, उसमें 'निर्घोष' शब्द प्रयुक्त हुआ है, जिससे अनुमान कर सकते हैं, कि अलाबु वीणा का प्रयोग तानपूरे के समान होता होगा :-

' अलाबु—वीणा—निर्घोषो दन्तमूल्यः स्वरानुगः ॥२३॥ '

रशियन् लेखक डॉ० **मीरचर्य** ने तानपुरे की ध्वनि को a pleasant humming sound इन शब्दों से वर्णित किया है । (Instru., p. 8) यही अभिप्राय 'निर्घोष' शब्द से व्यक्त होता है । अलाबु शब्द से तुंबी फल का अर्थ ध्वनित होता है । तानपुरे की पर्यायी संज्ञा 'तंबोरा' यह भी तुंबीफल की अभिवाचक होगी, यद्यपि अनेक प्रकार की 'तंबूर' वीणा ईरानी-अरबी संगीत में मध्ययुग में प्रचलित थी ।

अलाबु वीणा में दो तार लगाये जाते थे, ऐसा नान्यदेव का कथन है:-

' द्वितन्त्रीका तु विज्ञेया, अलाबूशाङ्ग-संज्ञिता । ' (-पृ० १८४)

अलाबु वीणा का निर्देश अन्य ग्रन्थों में उपलब्ध नहीं है ।

(उ) **तानपुरे** को फ्रेन्च पं० **ग्रॉसो** (J. Grosset) ने तुंबरू वीणा बतायी है (Encycl. Mus. I, p. 346), किन्तु तुंबरू वीणा का नाम ही कल्पित है ।

IX. प० ग्रामिक सप्तक के शुद्ध गान्धार को दो श्रुति चढ़ा करने से प० ग्रामिक वीणा की म० ग्रामिक वीणा बन जाती थी, इस युक्ति को भरतमुनि ने 'द्विविधैक-मूर्च्छना' की विधि कही है । इस विधि से भी सिद्ध होता है कि, भरत-संगीत की वीणाएँ कानून-जातिक थीं तथा उनका स्वरक्षेत्र संकुचित था । अनेक वीणाओं के एक साथ वादन की रीति भरतयुग में 'करण' नाम से प्रचलित थी । प्रायः दो या तीन वीणाओं से दो या तीन सप्तक का क्षेत्र प्राप्त करने के लिये 'करण' का उपयोग किया जाता होगा । संकुचित वीणाओं के कारण ही भरत के समय में मूर्च्छना-क्रिया अनिवार्य रूपेण आवश्यक थी । इसी प्रकार मूर्च्छना के संपूर्ण, षाडव, ओडव तथा सान्तरा या सकाकली प्रकार भरतसंगीत में पृथक् पृथक् मानते थे, इसमें भी मर्यादित क्षेत्रयुक्त कानून वीणा का कारण होना चाहिए ।

तानीकरण में वर्जित स्वर का अर्थात् स्वर की तन्त्री का 'प्रवेश' प्रकर्ष द्वारा याने चढ़ा कर अथवा 'मार्दव-' द्वारा याने उतार कर पूर्वोत्तर स्वर में कर लेने को कहा है, यह क्रिया कानून वीणा के लिये ही आवश्यक है । उसी प्रकार ग्रामों में मूर्च्छनाओं के अनेक द्विरुक्त प्रकार तथा तानों के गणितागत असंख्य प्रकार संकुचित कानून पर अपेक्षित स्वरक्षेत्र स्थापन करने के प्रयत्न-रूप पैदा हुए थे । ग्रीक संगीत में भी यही प्रचार था । (Artx., p. 19-20; H., p. 269]

X. बृ० दे० का वाद्याध्याय लुप्त है । तान प्रकरण में मतंग ने 'षड्षष्टितन्त्री' तथा 'शततन्त्री' इस प्रकार दो वीणाओं का निर्देश किया है :-

'तदेवमेतेषा स्वराणा तान विधानं षट्षष्टितन्त्र्यां शततन्त्र्यां चोपलभ्यते ।' (पृ० ३१)

नान्यदेव का कथन है कि उक्त वीणाएँ यज्ञ संगीत में प्रयुक्त होती थीं :-

'अष्टौ द्वादश तन्त्र्यश्च यासां तन्त्र्याः शतं तथा ।
ताः सर्वा यज्ञयोगिन्यो वीणा वीणाद-नामिका (?) ॥'

सितार जैसी पर्देवाली वीणाएँ, 'ख्याल' प्रबंध तथा थाट वर्गीकरण आदि अमीर खुसरो ने निर्माण किया, ऐसा कतिपय विद्वानों ने लिखा है। पर्देवाली वीणा का इतिहास पूर्व में ही देखा जा चुका है। कौल एवम् तराना खुसरो ने समत तथा तेतार के सहाय से बनाये, ऐसा आईने अकबरी के लेखक ने लिखा है (Aa-Tg c, p 204)। खुसरो फारसी के कवि थे, जिस कारण से कौलकव्वाली गीतों की तर्जें बनाने के लिए उन्हें गायकों का सहाय लेना पड़ा होगा। एक पंडित ने उक्त 'समत' को संगीत 'समिति' तक बना डाली है। (द०, पृ० ३०८) वीणाएँ तथा थाट आदि पैदा करने का श्रेय आईने-अकबरी ने खुसरो को नहीं दिया है। इस सम्बन्ध में मुस्लिम गायक-वादकों से सुनी हुई किंवदंतियों के आधार पर श्री शौरीन्द्रमोहन टागोर तथा कॅ० विलार्ड ने जो कुछ लिखा है, उससे यह अद्भुत कल्पनाओं का जन्म हुआ। तत्पश्चात् हिन्दुस्तानी संगीत शास्त्र के लेखकों ने एवं हिन्दुस्तानी संगीत को निहत दृष्टि से देखनेवाले भरत-संगीत के भक्तों ने भी इन्हीं कपोल-कल्पित बातों को इतिहास मान कर दोहराने से इन बातों का अत्यधिक प्रचार हुआ। खुसरो ने संगीत के कोई आविष्कार किये होते, तो उसने लिखी हुई आत्मचरित की पुस्तक में उसका उल्लेख वह अवश्य करता। परन्तु वैसा उल्लेख खुसरो के आत्म चरित में उपलब्ध नहीं है (Khus, p 238-240)।



४ वैज्ञानिक स्वर-सप्तक की सिद्धि

1. वैज्ञानिक (= पाश्चात्य) स्वर-सप्तकों की सिद्धि स्वयंभू (Harmonics) स्वरों के आधार पर की जाती है। किसी भी एक स्वर द्वारा उसके साथ अनेक स्वर सूक्ष्म रूप में पैदा होते हैं, जिनको उत्स्वर (Upper partials) नाम से पहचानते हैं। ऐसे अनेक उत्स्वरों में से द्वितीय स्वर तार षड्ज, तृतीय पंचम तथा पाँचवा उत्स्वर तीव्र गान्धार अभ्यास से सुने जा सकते हैं। षड्ज के साथ का इन स्वरों का मिश्रण, अनेक वैज्ञानिक कारणों से, सुननेवाले को सुखदायी प्रतीत होता है, अतः इन स्वरों को षड्ज के सवादी कहा जाता है। इनके आगे के उत्स्वर सातवाँ आदि बहुत ही कम सुनाई देते हैं। षड्ज के साथ होनेवाला पंचम का केवल एक ही सवाद शास्त्रकारों को अभी अभी तक ज्ञात था। षड्ज के साथ तीव्र गान्धार का सवाद भी कुछ अंश तक होता है, यह सिद्धान्त जर्मन् विज्ञानवेत्ता हेल्महोल्ट्ज् (१८६२ ई०) ने प्रयोगों द्वारा सिद्ध करने के पश्चात् उन्नीसवीं शती में ही सर्वमान्य हुआ।

वैज्ञानिक स्वरशास्त्र के अनुसार आधारस्वर षड्ज द्वारा प्रथमतः स्वर-त्रितय का ज्येष्ठ सूत्र सिद्ध होता है, एवं तत्पश्चात् उसके प्रमुख सवादी पंचम का स्वर-सूत्र सिद्ध होता है। 'मध्यम' नामक स्वर षड्ज-पंचम का ही व्यत्यास रूप है, अर्थात् सा-प यही म-सा है। स्वर-सप्तक के निर्मिति में उक्त तीन प्रमुख स्वरों के त्रि-स्वर-सूत्र कारण हैं, जो इस प्रकार हैं:—

सा → ग → प
म → ध → सां
प → नि → रें

इसको वैज्ञानिक म० ग्राम कह सकते हैं। उपरोक्त 1 और 2 में स्वर सूत्र + तथा – चिन्हों द्वारा निर्दिष्ट किये हैं। ज्येष्ठ तृतीय (=स–ग) + चिन्ह द्वारा एवं कनिष्ठ तृतीय (=स–ग॒) – चिन्ह द्वारा व्यक्त किये गये हैं।

ii वैज्ञानिक सप्तकों की विशेष आवश्यकता हार्मनी संगीत के लिए मानते हैं, तथापि राग-संगीत (melody) में भी वैज्ञानिक सप्तकों का ही प्रयोग अभीष्ट अर्थात् सुरीला होता है, ऐसा स्वरवैज्ञानिकों द्वारा प्रतिपादन है –

'It has been found that, melody, or the pleasing succession of notes, required the choice of notes which are now known to be related by simple frequency ratios' (Sound, p, 193)

iii षड्जाधारित सप्तक में प–भावी ० १८२ रि (=रि$_3$) को ग्राह्य माननेवाले एक दो पाश्चात्य पंडित भी हैं। उदाहरणार्थ कॉर्नेरूप ने लिखा है –

'I insist my perpendicular tonal zone as described as to make it clear at once that $d = \frac{10}{9}$ and not $d = \frac{9}{8}$, (Acoust, p 24)

ऋषभ मध्यमाधारित ग्राह्य करने के लिए हेल्महोल्ट्ज् ने भी कहा है (H, p 274)। वैज्ञानिक सप्तक में रि–ध–संवाद का अभाव है तथा रि–म स्वरान्तर यथार्थत् कनिष्ठ–तृतीय (=सग॒) नहीं है, यह उसका वैगुण्य मानना पड़ेगा, किन्तु साथ साथ यह भी कहना पड़ेगा कि यह सप्तक ही अत्यधिक सुसंवादी है —

'But even in the modern scale all the intervals are not perfectly consonant It is true that, as we have seen, it lends itself easily to certain naturally harmonious and pleasant combinations, and this is probably all that can be said in its favour'. (Philm, p 136–137)

ऐसे ऐसे मत–प्रदर्शन से यह नहीं माना जाय कि वैज्ञानिक सप्तक के ज्येष्ठ–कनिष्ठ–सुसंवादि सिद्धान्त निर्बल अथवा मतभेदयुक्त हैं। इस संबंध में उपरोक्त लेखकों ने ही लिखा है कि.—

"Colour-blind people are able to perceive but one or two primary colours The 'interval deafness' of the Pythagoreans rendered them able to hear only two primitive intervals — the Octave and the Fifth. (Acoust, p 24)

iv यूरप में हार्मोनिक्स (=स्वयंभू) स्वरों की कल्पना हेल्महोल्ट्ज् से दो शती पहले उद्भूत हुई थी, जो फ्रेन्च लेखक मर्सेन (१६३६ ई०) और वूल्हाउस (१८३५ ई०) आदि लेखकों के लेखों में उपलब्ध होती है। परन्तु सांगीतिक स्वरों की उत्पत्ति, स्वर–संवाद, स्वर–विवाद, श्रवणेन्द्रिय द्वारा स्वर–ग्रहण, इत्यादि क्रियाओं में मूलतत्त्व हार्मानिक्स ही हैं, यह मौलिक आविष्कार अनेक वैज्ञानिक प्रयोगों द्वारा हेल्महोल्ट्ज् ने ही सिद्ध किया। मानो यह महान् कार्य के लिए ही भगवान् ने उसको पैदा किया था, जैसा एक विद्वान् ने लिखा है —

"It was reserved for Helmholtze te solve the problem (p. 38); This is the great discovery of Helmholtz. In its complete form it is entirely new; it solves a problem of the greatest interest; the demonstration is most conclusive and admirable, and we are justified in pronouncing it perhaps the greatest advance in musical acoustics that has been made since the study of sound assumed a scientific form." (Philm., p. 47)

हेल्महोल्ट्ज् के इन आविष्कारों ने मानो, संगीत की दुनिया को एक प्रचंड आघात दे कर चिरनिद्रा में से जागृत किया ! हेल्महोल्ट्ज् के आविष्कार ग्रंथरूप में प्रथम १८३६ ई० में प्रसिद्ध हुए, उस समय तक संगीतशास्त्र में षड्ज के मध्यम, पंचम तथा तार षड्ज यह तीन ही संवाद माने जाते थे।

v. भारतीय संगीतशास्त्रकारों ने मध्यम और पंचम दो ही संवाद कहे हैं। उन्हों ने स्वरको अनुरणनात्मक कहा है; यह अनुरणन ही हार्मोनिक्स–युक्त होता है एवं सांगीतिक स्वरों के लिए ऐसे अनुरणन की विशेष आवश्यकता होती है। आवाज के इसी गुण का निर्देश रत्नाकर ने 'अनुध्वनि' संज्ञा द्वारा किया भी है :—

"तारानुध्वनि-माधुर्य-रक्ति-गाम्भीर्य-मार्दवैः ।
घनता-स्निग्धता-कान्ति-प्राचुर्यादि-गुणैर्युतम् ॥ ३।८३ ॥
तत्सुशारीरमित्युक्तं लक्ष्य-लक्षण कोविदैः ॥ ८४ ॥"

'कुशारीर' अर्थात् खराब आवाज का एक लक्षण रत्नाकर ने 'अनुस्वान-विहीनत्व' बतलाया है। विज्ञान के अभाव के कारण हमारे संगीतशास्त्रकार इससे आगे प्रगति न कर सके; इसमें उनका दोष नहीं है। तानपूरे का प्रचलन होने के पश्चात् भी गत पचास–साठ वर्षों के पूर्व तक तानपूरे में सुनाई देते स्वयंभू गान्धार आदि का पता तक हमारे गायकों को चला नहीं था, यद्यपि तानपूरे की विशिष्ट गूँज को वे चाहते थे तथा उसका महत्त्व समझते थे। तानपूरा आदि वाद्यों के स्वयंभू स्वरों को यथावत् समझनेवाले तथा ऐसे स्वरों का आविष्कार एवं गायन में प्रयोग करनेवाले प्रथम गायक स्व० अबदुलकरीमखाँसाहब हुए। निषाद का तानपूरा भी इन्हींका आविष्कार है। स्वयंभू स्वरों पर आधारित आधुनिक श्रुतिवाद के आद्य प्रणेता स्व० पं० देवल ने इन्हीं खाँसाहब के सहकार से ही अपना संशोधनकार्य सिद्ध किया (Study. Mus., p. 4, 7, 14, 32, 46 etc.)।

vi. भारतीय राग–संगीत में, विशेषतः हिंदुस्तानी रागरूपों के निर्माण में यही ज्येष्ठ–सूत्र तथा कनिष्ठसूत्र के मूलतत्व रहे हैं। ज्येष्ठसूत्र स–ग–प–नि का उदाहरण शंकरा तथा हंसध्वनि राग में उपलब्ध है। स–ग–प तथा प–नि–सं इन दो कनिष्ठसूत्रों के संयोग से भीमपलासी का आरोहरूप निर्माण हुआ है। ज्येष्ठ तथा कनिष्ठ स्वरसूत्रों का संयोग अन्य अनेक रागों में विद्यमान है, उदाहरणार्थ.–सारंग, भूपाली, तिलंग, मालकौंस, दरबारी, जौनपुरी इत्यादि। संपूर्ण रागों का बर्ताव भी स्वरसूत्रों पर आधारित है। रत्नाकरोक्त 'अन्तर-मार्ग' तथा अधुना-प्रसिद्ध 'स्वर-संगति' की क्रिया इन्हीं दो स्वरसूत्रों पर प्रायः आधारित होती हैं।

मालकौंस तथा ललत क्रमशः भीमपलास (आरोहरूप) तथा तोडी के व्यत्यास (inversion) से अर्थात् षड्ज को मध्यम करने से पैदा हुए हैं।

तीव्रमध्यमयुक्त कतिपय राग तीव्र निषाद को षड्ज करने पर पैदा हुए हैं। इसका अधिक विचार यहाँ नहीं किया जा सकता।



५ भरत-संगीत में सप्तक के स्वर-संवाद

i. नौ तथा तेरह श्रुति पर स्थित होनेवाले स्वर परस्पर संवादी होते हैं, ऐसा नियम भरत से रत्नाकर तक के सभी ग्रंथकारों ने कहा है। इस नियम के अनुसार भरत के स्वरों में मध्यम का निषाद के साथ नौ श्रुति का तथा अन्तर-गान्धार का काकली-निषाद से तेरह श्रुति का संवाद होता है। भरतोक्त द्विविधैक-मूर्च्छना-क्रिया द्वारा भी मध्यम-निषाद का तथा अन्तर-धैवत का परस्पर संवाद अनुमानित हो जाता है:—

द्विविधैक-मूर्च्छना द्वारा षड्ज ग्रामिक गान्धार को दो श्रुति चढाने से एवं षड्ज को मध्यम मानने से षड्जग्राम का मध्यमग्राम बन जाता है। इसके विपरीत मध्यमग्रामिक धैवत को दो श्रुति उतारने से एवं मध्यम को षड्ज मान लेने से म० ग्राम का ष० ग्राम बन जाता है:—

१	ष० ग्रा० →	स	३रि	४ग	म	प	३ध	नि़
		|	|	|	|	|	|	|
	म० ग्रा० →	म	३प	४ध	नि़	स	३रें	गु
२	म० ग्रा० →	म	३प	२ध	नि़	सं	३रें	गं
		|	|	|	|	|	|	|
	ष० ग्रा० →	स	३रि	गु	म	प	३ध	नि़

भरतोक्त इस प्रयोग के अनुसार अन्तर-गान्धार तथा धैवत परस्पर संवादी प्रतीत होते हैं, उसी प्रकार मध्यम तथा निषाद भी परस्पर संवादी होते हैं। परन्तु यह एक कुतूहल का विषय है, कि षड्जग्राम के इस चतुःश्रुतिक गान्धार को भरत ने न तो अन्तर-गान्धार नाम से संज्ञित किया है, और न मध्यम-निषादों को परस्पर संवादी भी कहा है। भरत ने जिन संवादी स्वरों का उल्लेख किया है, उनमें अन्तर-धैवतों का तथा मध्यम-निषादों का समावेश नहीं है। इसका अर्थ यही होता है, कि यह स्वर यद्यपि परस्पर संवादी प्रतीत होते हैं, परन्तु वस्तुतः उनका पूर्णतया संवाद नहीं होता था अथवा भरतादिकों के स्वर-संवादों के सिद्धान्त कुछ और ही थे।

ii. रत्नाकर के 'निषादस्य-विवादिनौ। विपर्ययेण वा स्यातां तौ, तयोर्वा विवादिनि ॥१।३।४९॥'

इस वचन की टीका में कल्लिनाथ ने मध्यम निषाद के संवाद का स्पष्ट निर्देश किया है:—

"गुरुपर्योर्मध्यम निषादयोः परस्परं संवादित्वदर्शनात् दिग्भ्रान्तिरोधेन पक्षान्तरमाह :— विपर्ययेण वा' इति।" सिंहभूपाल ने यह संवाद केवल म० ग्राम में बताया है:—'निषादस्य

गान्धार मध्यमो, इति । मध्यमस षड्ज निषादौ ।' परन्तु स्वय रत्नाकर ने ग नि-संवाद का प्रत्यक्ष निर्देश नहीं किया है ।

III. मतग ने सवादित्व के सबध में समश्रुतिकत्व का एक और नियम प्रस्तुत किया है — 'सवादित्वस्तु पुन सम श्रुतिकत्वे सति त्रयोदश–नवान्तरत्वे चाऽन्योऽन्य बोद्धव्य ।' (पृ० १४)

मतग के स्पष्टीकरणानुसार समश्रुतिक सवादी स्वरों की जोड़ियों में से उनको आपस में बदल देने पर अशादि कार्य तथा मूर्च्छना–प्रयोग सफल हो सकता है । षड्ज के बदले मध्यम अथवा पचम, ऋषभ के बदले धैवत, एव गान्धार के बदले निषाद लेने से अथवा इसके विपरीत करने पर अशादि व्यवस्था तथा मूर्च्छना व्यवस्था हो सकती है, ऐसा मतग का निवेदन है । ऋषभाश रेवगुप्त राग तथा धैवताश ककुभ राग इस दृष्टि से परस्परों के प्रतिनिधि होते हैं, ऐसा भी मतग ने उदाहरण दे कर स्पष्ट किया है —

रेवगुप्त — रि ग म, ४प ध नि
| | | | | |
ककुभ — ध नि स, ३रि ग ग

IV मतग ने रेवगुप्त तथा ककुभ का मूर्च्छनासाम्य बताया है, परन्तु इससे प० ग्रामिक रेवगुप्त के चतु श्रुतिक पचम पर म० ग्रामिक ककुभ का त्रिश्रुतिक ऋषभ अधिष्ठित होता है, तथापि यह बाधा मतग को प्रतीत नहीं हुई । इसका अर्थ यह होता है कि, इन ग्रथकारों द्वारा कथित चतु श्रुतिक स्वरों की भिन्नता केवल औपपत्तिक (Theoretical) थी, प्रत्यक्ष में वह विद्यमान नहीं थी । इस सम्बध में अन्य प्रमाण पहले भी दिये जा चुके हैं ।

कतिपय आधुनिक विद्वान मानते हैं, कि चार, तीन आदि श्रुतियाँ क्रमश षड्ज, ऋषभ आदि स्वरों के पूर्ववर्ती थीं, वे हिंदुस्थानी सप्तक में स्वरों के परवर्ती होकर बिलावल थाट निर्माण हुआ (भात० क्र० भाग ४, वि० प्र०, पृ० ६)। यह कल्पना सर्व प्रथम सर जोन्स ने तथा बाद में पॅटर्सन ने की है (TgO, p 143,180), जो भूल से की गयी है ।



६ भरतोक्त सप्तक का वैज्ञानिक मूल्य

वैज्ञानिक स्वर सप्तक, अर्थात् कोमल-तीव्र आदि सभी स्वर, स्वयभू स्वर-जन्य होते हैं, अर्थात् सप्तक के स्वर पचम भावी एव तीव्रगान्धार भावी होते हैं । वैज्ञानिक सप्तक का स्वीकार श्रुति पडितों ने भरतसगीत के लिए किया है, अर्थात् तीव्र गान्धार भावी और पचम भावी स्वरों द्वारा ही भरत सगीत का स्वर सप्तक निर्माण हुआ था, ऐसा उनका सिद्धात है । यद्यपि उन्होंने वैज्ञानिक स्वरशास्त्र के सहाय से ही भरत का स्वर सप्तक सिद्ध किया है, फिर भी उसमें वैज्ञानिक स्वरशास्त्र के मूलभूत सिद्धातों का परिपालन यथावत् नहीं हुआ है । वैज्ञानिक स्वर सप्तक का मूल आधार षड्ज (Key note) तथा उसके स्वरसूत्र हैं, जिसका सम्पूर्ण अनुसरण इनके 'भरतोक्त' स्वर-सप्तक में नहीं हुआ है, उदाहरणार्थ —

(१) प० ग्रामिक पडितमान्य ऋषभ त्रिश्रुतिक है, परन्तु उसे षड्ज के सप्तक में वास्तविक स्थान नहीं है ।

(२) भरतोक्त ष० ग्रामिक ग-नि मध्यमभावी हैं, जो ष० के सप्तक में अग्राह्य हैं।

(३) ष० ग्राम को मध्यमप्रधान सप्तक मान लिया, तो भी उसका कोमल गान्धार (मूलतः निषाद) मध्यम-भावी होने से अवैज्ञानिक है।

(४) म० ग्रामिक सप्तक का भरतोक्त पंचम त्रिश्रुतिक है। मध्यम के स्थायी होने पर यह पंचम उस सप्तक में त्रिश्रुतिक ऋषभ बनता है, जो वैज्ञानिक दृष्टि से अग्राह्य है।

किसी भी स्वर को षड्ज (=स्थायी) मान लेने बाद उसका ऋषभ उक्त षड्ज के पंचम का संवादी ही होना अपरिहार्य है। षड्जग्राम में यदि मध्यम को स्थायी बनाया जाय, तो निम्नस्थ ऋषभ १०/९ अनुपात का ग्राह्य होगा; परन्तु उस समय यह ऋषभ वास्तव में धैवत होता है, क्योंकि मध्यम यदि स्थायी हो जाता है, तो उस सप्तक का वह षड्ज ही बन जाता है। इस योजनानुसार म–स्थायीयुक्त ष० ग्राम नि$_1$–(=मूल ष० ग्रामिक ग$_1$)–युक्त मेजर मोड बन जाता है।

म–स्थायीयुक्त म० ग्रामिक सप्तक में प ३) यह रि ३) बनता है, जो इस सप्तक में भी कृत्रिम अत एव अग्राह्य स्वर है। भरतोत्तरकाल में स्थायी स्वर की कल्पना संपूर्ण विकसित होने पर शास्त्रकारों के रि ३) (= प ३) युक्त मध्यमग्राम का भी लोप हुआ। इसी प्रकार षड्जग्रामिक रि ३) सुधर के रि ४) होने बाद षड्जग्रामिक सप्तक काफी थाट बन गया। मध्ययुगीन उत्तर-भारतीय ग्रंथकारों का शुद्ध सप्तक यही था। अहोबल ने तार के विभाग द्वारा जो शुद्ध सप्तक के अर्थात् काफी थाट के स्वर बताये हैं, उनमें चतुःश्रुतिक अर्थात् प्रचलित तीव्र रे तथा वैज्ञानिक (= प्रचलित) कोमल ग-नि स्पष्ट और निर्विवाद विद्यमान हैं।

यहाँ बतायी हुई रीति से ही भरतोक्त ग्रामसप्तकों का सरल तथा विज्ञानमान्य अर्थ लग सकता है। इस परिवर्तन को ऐतिहासिक आधार पर्याप्त रूप से प्राप्त हैं। भरत के सप्तकों का अर्थ करने के लिए भरतसंगीत में स्वयंभू स्वरों की आधुनिक कल्पना घुसाडने की आवश्यकता नहीं है। पं० रामामात्य आदि ने 'स्वयंभू' शब्द Harmonics के अर्थ में प्रयुक्त नहीं किया है, तो भी कतिपय आशावादी विद्वान स्वयंभू गान्धार को महाभारत आदि से पैदा करके संतोष मानते हैं (ऑ०, पृ० ७७)। भरतयुग के कलाकार कौनसे स्वर प्रयोग में लेते थे, इस बाबत के अनुमानों का विचार यहाँ कर्तव्य नहीं है, किन्तु प्राचीन ग्रंथकारों ने बताये हुए स्वरस्थानों का निर्णय उन्हीं के वचनों द्वारा करना है।

यहाँ यह मानना उचित होगा, कि प्राचीन शास्त्रकार (theorists) उस समय के प्रचलित स्वरस्थान बराबर लिख न सके। भरत-रत्नाकरादि के समय के संगीत में काफी तथा बिलावल के सप्तक में त्रिश्रुतिक (उतरा तीव्र) ऋषभ गाते-बजाते थे ऐसा नहीं मानना चाहिए; किन्तु यह समझना चाहिए कि शास्त्रकारों ने केवल परम्परा के आधार पर तीव्र ऋषभ को तथा म० ग्रामिक पंचम को 'त्रिश्रुतिक' की उपाधि प्रदान की। ग्राम, श्रुति तथा मूर्च्छना आदि गड़बड़ी में पड़कर ग्रीक शास्त्रकारों ने भी उनके रागों को अस्तव्यस्त लिख डाला है। परन्तु प्राचीन समय को देखते हुए, ऐसी धाँधली होना स्वाभाविक था, यही मानना पड़ेगा।

❧

शुद्धिपत्र

पृष्ठाङ्क		पङ्क्ति	अशुद्ध	शुद्ध
२	(नीचे से)	१	सन्तास्तु	सन्तास्तु
३	(ऊपर से)	१३	यादशो	यादशौ
,,	,,	१७	वर्म्मता	वर्त्मता
१२	,,	१३	प्रचक्ष्यते	प्रचक्षते
१५	,,	१२	अध्यायाणा	अध्यायाना
१७	,, ३ और ४ के बीच मे		– – – –	२ अथ वर्ण-वर्णन प्रकरणं द्वितीयम्
२४	(नीचे से)	१	तच्च तुर्यम्	तच्चतुर्थमम्
२५	(ऊपर से)	३	आचार्यैः	आचार्योः
,,	,,	६	शातपथ	शतपथ
,,	(नीचे से)	१	सीमन्	झीमन्
२६	,,	१	उनका	उसका
,,	,,	७	कोण	कोन
२७	,,	२	अ०	अष्टा०
३०	,,	५	होती	होता
३१	,,	५	अनुवाक्	अनुवाक
३२	(ऊपर से)	१०	,,	,,
३८	(नीचे से)	७	कुष्टों	क्रुष्टों
३९	(ऊपर से)	२	कुष्टस्य	क्रुष्टस्य
४२	,,	३	Begining	Beginning
,,	,,	९	कुष्टादि	क्रुष्टादि
,,	(नीचे से)	४	कुष्ट	क्रुष्ट
४७	(ऊपर से)	१४	Consanance	Consonance
,,	(नीचे से)	९	und	and
४९	(नीचे से)	५	अभिर्मिले श्रुर्तिजम्	अग्निमीळे ऋत्विजम्
५०	(ऊपर से)	४	सीमन्	झीमन्
५२	,,	८	he	be
५७	,, १ और २ के बीच में		– – – –	७ अथ सप्तमं शब्द-नित्या-नित्यत्व–प्रकरणम्
५८	,,	६	सख्या	सख्या
६२	,,	१४	गान्धिव	गान्धर्वे
६३	,,	५	–छन्द–	–छन्द–
६४	,,	४	गान्धार-स्यापि	गान्धारश्चापि
७०	,,	२३	हिंगुल	गंधक
७१	,,	१०	त्रिष्टुभ्	त्रिष्टुभ्
७२	,,	२	अथ......	२ अथ......
,,	,,	६	श्रुती यथा	श्रुतीर्यथा
७३	(नीचे से)	५	मेरु	मेरु
७४	(ऊपर से)	१५	,,	,,
७५	,,	११	Ibid	Ibid
८२	,,	१४	निर्दों	निर्दिष्ट
८४	,,	१७	लिख्यो	लेख्यौ
८६	,,	७	श्रुणोतेः	शृणोतेः
८७	,,	३०	–गुरणन	–गुरणन
८८	,,	३०	बडा	बड़ाई
८९	,,	९	की नहीं	नहीं की

शुद्धिपत्र

पृष्ठाङ्क		पङ्क्ति	अशुद्ध	शुद्ध
९०	,,	७	तिलेतत्	तेतत्
,,	,,	२४	श्रुतियां को	श्रुतियों को
९१	,,	१०	प्रगट	प्रकट
,,	(नीचे से)	२	ध्वनि	ध्वनियों को
९४	(ऊपर से)	७	दधिनि	दधनि
,,	,,	१२	विशप	विशेप
,,	,,	१४	कूटे	कुटे
९७	,,	२४	श्रति	श्रुति
९९	(नीचे से)	३	इस	इन
१०४	,,	५	प्रर्याप्त	पर्याप्त
१०७	(ऊपर से)	३	श्रुतीणां	श्रुतीनां
१०८	,,	१६	षड्जाख्य ग्रामयोः	षड्जाख्य-ग्रामयोः
१११	,,	६	स्वरेष्वेवहि	स्वरेष्वेव हि
११२	,,	३	षड्जेत्तर-	षड्जे तूत्तर-
११३	,,	२०	मूर्छना	मूर्च्छना
११३	,,	१	४ श्रुत्यध्यायः	४ मूर्च्छनाध्यायः
११५	,,	१	,,	,,
,,	,,	२	षड्ज-मध्यम-	षड्ज-मध्यम-
,,	,,	६	ज्ञेयं मौडविते	ज्ञेयमौडविते
११७	,,	१	४ श्रुत्यध्यायः	४ मूर्च्छनाध्यायः
११९	,,	,,	,, ,,	,, ,,
१२०	,, १ और २ के बीच में		— — — —	३ अथ तान-प्रकरणं तृतीयम्
१२१	,,	,,	,, ,,	,, ,,
१२३	,,	,,	,, ,,	,, ,,
१२४	(नीचे से)	३	रागोत्पादक	रागोत्पादक
१२५	,,	,,	,, ,,	,, ,,
१२७	,,	,,	,, ,,	,, ,,
१२९	,,	४	विप्णु	विष्णु
१३१	(ऊपर से)	५	ओडवा	औडवा
१३५	,,	१६	तथा क्षितो	तथाऽऽक्षिप्तो
,,	,,	,,	विधुतो	विधूतो
१४०	,,	१७	नाविन्य	नावीन्य
१४३	(नीचे से)	२	association	association
१४४	(ऊपर से)	२३	we	We
,,	,,	२४	ae	as
,,	,,	३०	esthetie	esthetic
१४५	,,	३	विहिता	विहिताः
,,	,,	१५	पहचनाते	पहचानते
१४९	,,	४	क्वचिन्क्व	क्वचित्क्व
१५४	,,	२०	चैवेतपां	चैवेतपां
		[illegible]	[illegible]	सा

इंदिरा कला संगीत विश्वविद्यालय ग्रंथमाला

आगामी प्रकाशन

१ : तबला-वादन, भाग २

ले०- श्री. माधवराव अळकुटकर

२ : बेला-वादन

ले०-श्री तुलसीराम देवाङ्गन

३ : भरतभाष्य, द्वितीय खण्ड